संस्कृति

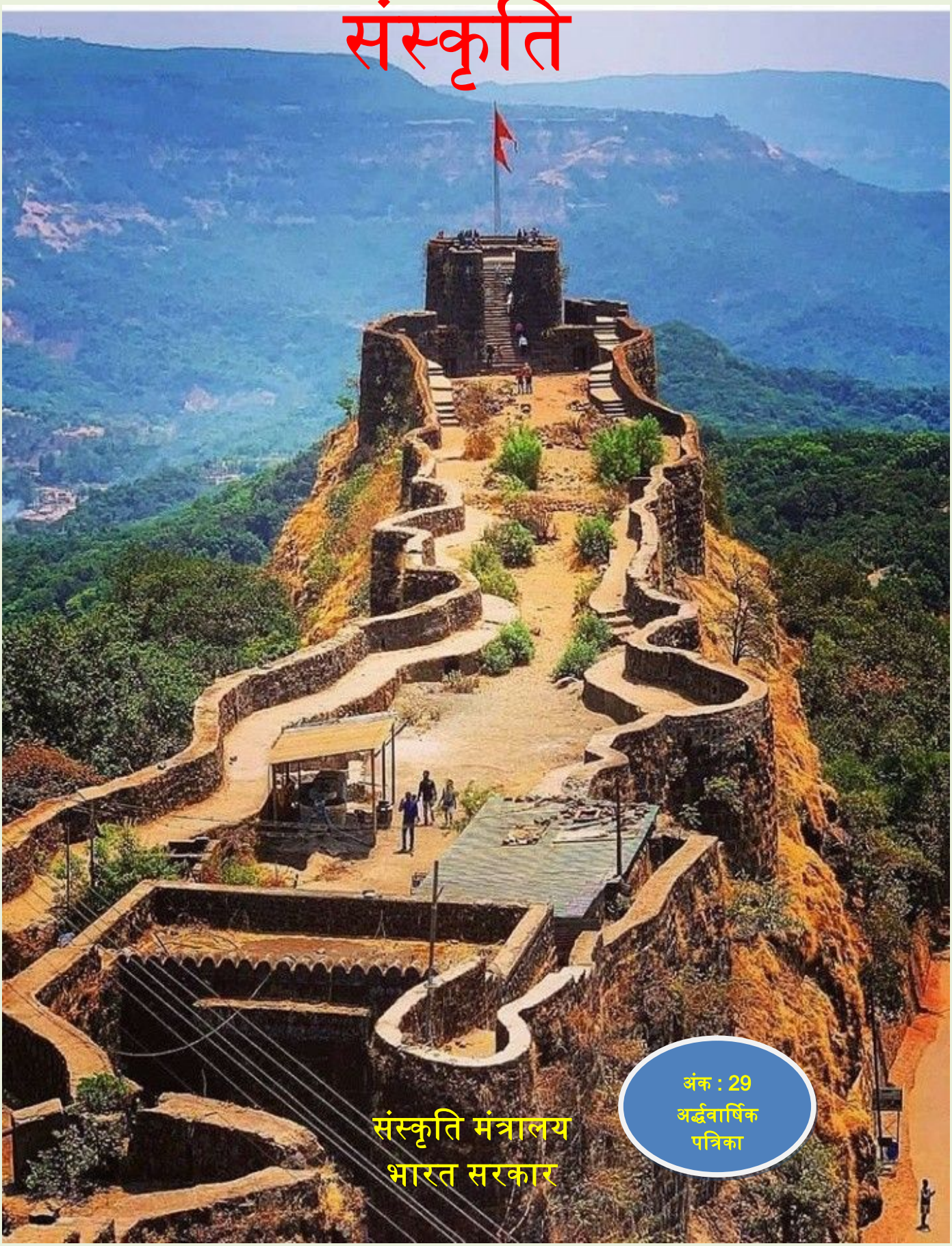

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार

अंक : 29
अर्द्धवार्षिक
पत्रिका

छत्रपति शिवाजी महाराज

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार

संस्कृति

संरक्षक :
विवेक अग्रवाल, सचिव

मुख्य परामर्शदाता :
डॉ. अरविन्द कुमार, संयुक्त सचिव

सम्पादक :
मनोज कुमार चौधरी, उप निदेशक

उप सम्पादक :
डॉ. ज्योत्स्ना शर्मा, वरिष्ठ अनुवाद अधिकारी

संपादन मंडल :
राजभाषा प्रभाग के समस्त पदाधिकारी

मुख्य आवरण: यूनेस्को विश्व धरोहर स्थल में सम्मिलित मराठा किले

अंतिम आवरण: भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित आठ रस और स्थायी भाव

संपादकीय पता :
मनोज कुमार चौधरी, उप निदेशक (राजभाषा)
द्वितीय तल, केन्द्रीय सचिवालय ग्रंथागार शास्त्री भवन, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद रोड, नई दिल्ली-110001
☎ 91 011- 23073559
ई-मेल : dirol-culture@nic.in
hindicsl@gmail.com

(यह पत्रिका मंत्रालय की वेबसाइट : www.indiaculture.nic.in पर उपलब्ध है)

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001

संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उनसे मंत्रालय या संपादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

गजेन्द्र सिंह शेखावत
Gajendra Singh Shekhawat

संस्कृति मंत्री एवं पर्यटन मंत्री
भारत सरकार
MINISTER OF CULTURE AND
MINISTER OF TOURISM
GOVERNMENT OF INDIA

संदेश

हमारा पुनीत पावन समृद्ध राष्ट्र भारत सदियों से एक अद्वितीय संस्कृति और सभ्यता का उद्गमस्थल रहा है। हमारी संस्कृति केवल जीवन-शैली नहीं, अपितु हमारे स्वभाव, हमारी सोच, हमारी विरासत और हमारे अस्तित्व में स्पष्ट रूप से झलकती है। संस्कृति वह अनमोल धरोहर है, जो हमें हमारे पूर्वजों से विरासत में प्राप्त हुई है और जिसे अपनी आने वाली पीढ़ी तक पहुंचाना हमारा परम कर्तव्य है। संस्कृति वह प्राण है जो हमें एकजुट करता है और हमारी पहचान को विश्व में स्थापित करता है। भारत की संस्कृति में पंच प्राण—वेद, वेदांत, योग, दर्शन, और संगीत—ऐसे स्तंभ हैं जो हमारे भारतीय जीवन दर्शन को परिलक्षित करते हैं। ये पंच प्राण न केवल हमारी धार्मिक या आध्यात्मिक अभिव्यक्ति हैं, अपितु वे हमारे स्वभाव और आचरण को भी सुदृढ़ आधार प्रदान करते हैं।

भारत की सभ्यता का इतिहास अत्यंत गौरवशाली रहा है। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक हमारी सभ्यता ने अनेक संस्कारों, विचारों और ज्ञान के विविध स्रोतों को समाहित किया है जिससे हमारा देश उत्तरोतर प्रगति के पथ पर अग्रसर है। हमारी विरासत में न केवल कला, साहित्य और स्थापत्य शामिल हैं बल्कि सहिष्णुता, सह-अस्तित्व और आत्मसम्मान की भावना भी है और इसी भावना के कारण सारे विश्व के लोग भारत भूमि और भारतीय संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव रखते हैं। यह विरासत हमें जीवन के हर क्षेत्र में प्रेरणा देती है और हमें एक मजबूत राष्ट्र के रूप में आगे बढ़ने में सहायता करती है। इसी प्रकार के विभिन्न पक्षों को दर्शाती "संस्कृति" ई-पत्रिका के अनवरत प्रकाशन के लिए मेरी ओर से सम्पूर्ण संपादक मंडल को शुभकामनाएँ।

वन्दे मातरम!

(गजेन्द्र सिंह शेखावत)

विवेक अग्रवाल
सचिव
Vivek Aggarwal
Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001

GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

भारतीय स्वभाव की एक विशेषता है—सभी में एकता की भावना। चाहे भाषा, धर्म, जाति या क्षेत्र भिन्न हो, हमारी संस्कृति हमें सदैव यह याद दिलाती है कि हम सभी एक परिवार के सदस्य हैं। यही कारण है कि भारत अपने विविध रंगों को संजोय हुए विश्व में एक ऐसा अनूठा राष्ट्र है, जहाँ विविधता में एकता की मिसाल देखने को मिलती है। आज जब विश्व तेजी से बदल रहा है, तब हमारी संस्कृति और सभ्यता की महत्ता और भी बढ़ जाती है। हमें अपनी सांस्कृतिक विरासत के साथ ही भारतीय ज्ञान परंपरा को भी समझने की आवश्यकता है।

हमारी ज्ञान परंपरा आज विश्व फ़लक पर अपनी पताका फहरा रही है। पश्चिमी राष्ट्र हमारे दर्शन और विज्ञान से प्रभावित होकर पुनः उस पर शोध और अनुसंधान में गहरी रुचि दिखा रहे हैं। संस्कृति केवल परंपरा नहीं है, अपितु हमारी आत्मा का प्राण तत्व है, जो हमें सदैव सही मार्ग प्रशस्त करती है। विगत हजारों वर्षों से कई संस्कृतियों का प्रादुर्भाव हुआ पर समय के चक्र के साथ वे विलुप्त हो गईं। भारतीय संस्कृति अपने समृद्ध इतिहास, विलक्षणता और विपुलता के कारण आज भी वैश्विक परिदृश्य में ज्योतिर्पुंज के समान सुशोभित है। हमारा दायित्व है की हम सब मिलकर अपनी संस्कृति की इस समृद्ध धारा को निरंतर प्रवाहित रखें जिससे हमारा भारत सदैव विश्व में अद्वितीय बना रहे। इन्हीं मानवीय संवेदनाओं से परिपुष्ट "संस्कृति" पत्रिका के सफल प्रकाशन के लिए मेरी ओर से संपादक मण्डल को हार्दिक मंगलकामनाएँ।

विवेक
(विवेक अग्रवाल)

डॉ. अरविन्द कुमार
संयुक्त सचिव
DR. ARVIND KUMAR
Joint Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

भारतीय संस्कृति जीवन को अर्थ प्रदान करने वाला समग्र दर्शन बोध है, जो व्यक्ति, समाज, प्रकृति और ब्रह्मांड के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। इसकी आत्मा में सांस्कृतिक चेतना बसती है जो मनुष्य के मन में अपनी विविधता के प्रति सम्मान और सतत आत्मोन्नति की आकांक्षा के भाव को समाहित करती है। यही चेतना हमारे मूल्य, आचार-विचार और संस्कार को आकार देती है और मिलकर एक ऐसा सार्थक संदेश रचती है जो काल, देश और परिस्थिति से परे प्रासंगिक बना रहता है। भारतीय बौद्धिक परम्परा "मानने" से आगे "जानने" पर बल देती है—आत्म कल्याण हेतु अन्तर्मन पर ध्यान का बोध। यह बोध कहता है कि मनुष्य केवल शरीर नहीं, चेतना है; और चेतना का विस्तार ही सच्ची प्रगति है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" और "सत्यमेव जयते" जैसे सूत्र इसी आत्मबोध के सार्वजनिक रूप हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा के अनुसार धर्म का आशय संकीर्ण मत नहीं अपितु धारण करने योग्य सद्-आचरण, करुणा और न्याय से है। सांस्कृतिक चेतना वह अंतर्दृष्टि है जो हमें अपने इतिहास, लोक-जीवन, भाषा-बोली, पर्व-त्योहार, संगीत-कला और ज्ञान-परम्परा से जोड़ती है।

भारतीय संस्कृति हमें यह संदेश देती है कि जीवन केवल भौतिक सुखों का भोग नहीं, योग और सेवा है; मनुष्य केवल "मैं" नहीं, "हम" है। इसी चेतना से सराबोर "संस्कृति" पत्रिका के इस अंक के लिए मेरी ओर से हार्दिक शुभकामनाएँ।

अरविन्द कुमार

(डॉ. अरविन्द कुमार)

सत्यमेव जयते

संपादकीय

भारतीय संस्कृति विश्व मानवता के लिए अनेक आदर्श और मूल्य प्रदान करती आई है। इस संस्कृति के मूल तत्व और उसके पंच प्रण हमें जीवन जीने का मार्ग दिखाते हैं और सद्भावना का संदेश देते हैं। भारतीय संस्कृति एक विशाल और समृद्ध धरोहर है, जिसमें अनेक धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, त्योहार, रीति-रिवाज और सामाजिक मूल्यों का संगम होता है। इसके मूल तत्व धर्म और आध्यात्मिकता, सांस्कृतिक विविधता और सहिष्णुता, परिवार और समाज, कला, साहित्य और संगीत, आत्मानुशासन और संयम में निहित हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म केवल पूजा-पाठ या धार्मिक क्रियाकलाप नहीं है, अपितु यह जीवन का एक सम्पूर्ण दर्शन है। सत्य, अहिंसा, करुणा, क्षमा, त्याग, उपासना, तपस्या जैसे गुण धर्म के मूल में हैं। वेद, उपनिषद, भगवद्गीता जैसे ग्रंथ इस आध्यात्मिकता को विस्तार देते हैं। भारतीय संस्कृति की विविधता भारत की अनेक भाषाओं, धर्म, संप्रदायों में एकात्मता का संदेश देती है। विविधता में सहिष्णुता, एक-दूसरे के प्रति सम्मान और प्रेम की भावना का सामंजस्य प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। भारतीय संस्कृति में कला और साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि संस्कृति के जीवंत अंग हैं। जब लाल किले की प्राचीर से माननीय प्रधानमंत्री पंच प्रण का उद्घोष करते हैं तब समस्त भारतीय संस्कृति में राष्ट्रीय चेतना के स्वर मुखरित हो उठते हैं। यदि हम इन पंच परिवर्तन के प्रण को अंगीकार करें तो जीवन में समरसता, प्रेम और सौहार्द स्थापित होना निश्चित है। भारतीय संस्कृति का इतिहास और उसकी महानता इन्हीं मूल तत्वों में निहित है, जो हमारी जीवनरूपी यात्रा को सहज और सुगम बनती है। पंच प्रण का संतुलन हमें स्वस्थ और सशक्त बनाता है, जबकि सद्भावना से हम अपने समाज और राष्ट्र को एकता और शांति की ओर ले जा सकते हैं। आज के युग में, जहाँ वैश्वीकरण और तकनीकी विकास हमारे जीवन में तेज़ी से बदलाव कर रहे हैं, वहीं भारतीय संस्कृति के ये मूल तत्व हमें अपनी जड़ों से जोड़ते हैं और सही दिशा प्रदान करते हैं। इन्हीं मूल तत्वों से सुवासित यह अंक सुधि पाठकों को समिर्पत है। आशा है कि आपको इस अंक में संकिलत लेखों केमाध्यम से अपनी संस्कृति पर गर्व की अनुभूति होगी।

(मनोज कुमार चौधरी)

सत्यमेव जयते

उप-संपादकीय

भारतीय संस्कृति के उद्दात तत्व हर काल और परिस्थिति में प्रासंगिक हैं और समयानुकूल हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा में अंर्तनिहित 'अंहिसा परमो धर्मः', वसुधैव कुटुम्बकम्, 'एकोऽहं बहुस्याम', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदान्ति' पथ प्रदर्शक सिद्ध हुए हैं। भारतीय संस्कृति मनुष्य के जीवन को सार्थक अर्थ प्रदान करने वाली है। भूमंडलीकरण और औद्योगिक व्यापार केंद्रित राजनीति के वातावरण में भी भारतीय संस्कृति अडिग है। हमारी सांस्कृतिक विरासत जैसे शास्त्रीय संगीत, लोक कथाएँ, मूर्त-अमूर्त विरासत, भवन, स्मारक, स्थापत्य कला शैली और विपुल साहित्य हमारी सांस्कृतिक पूंजी है जिनके संरक्षण और परिरक्षण में असंख्य सांस्कृतिक प्रहरियों ने जीवन भर तपस्या की है। उनके द्वारा किए गए तप को नमन करते हुए इस अंक में ऐसे बहुत से लेखों को स्थान दिया गया है, जिनकी लेखनी से भारत की सांस्कृतिक चेतना को परिभाषित किया जा सके।

'संस्कृति भारत की आत्मा, चेतना और भविष्य' लेख भारत की संपूर्ण आत्मा को स्वयं में संजोए हुए हैं तो 'भारतीय दर्शन और संस्कृति लेख' एकत्व की परिकल्पना के विचार को मूर्त रूप प्रदान करता है। 'पांचाल प्रदेश की सांस्कृति धरोहर', 'गढ़वाल के लोकगीत', 'पंढर पुर वारी', 'डुग्गर प्रदेश का डोगरी रंगमंच' सरीखे लेख भारत के विभिन्न प्रदेशों की शाश्वत, चिरंतन और सार्वभौम स्वीकार्यता को दर्शाते हैं। अत्यंत हर्ष के साथ यह अंक अपने समस्त सुधि पाठकों को समर्पित करते हुए संतोष की अनूभूति हो रही है। आशा है कि भविष्य में भी सुधि-पाठक अपने बौद्धिक विचारों से हमें लाभन्वित करते रहेंगे।

ज्योत्स्ना.

(डॉ. ज्योत्स्ना शर्मा)

विषय क्रम

पृष्ठ संख्या

1. संस्कृति: भारत की आत्मा, चेतना और भविष्य **1-5**
डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक'

2. भारतीय दर्शन एवं संस्कृति **6-8**
अतुल कोठारी

3. गढ़वाल उत्तराखंड की पारंपरिक विरासत लोक संगीत **9-12**
माधुरी बड़थ्वाल

4. समुद्री किलों का वैभव और मराठा साम्राज्य **13-17**
अरविंद कुमार सिंह

5. योग और आयुर्वेद: भारत का विश्व को उपहार **18-20**
बिजय जे आनंद

6. अभिनव भरत पण्डित सीताराम चतुर्वेदी और अभिनव नाट्यशास्त्रः विहंगावलोकन **21-28**
डॉ. तेजस्वरूप त्रिवेदी

7. संस्कृति: भारत की आत्मा की अनन्त गूंज **29-33**
हिमांशु सुंदरियाल

8. द्वारका : राष्ट्र की ऐतिहासिक सांस्कृतिक धरोहर **34-39**
सुधेन्दु ओझा

9. पंढरपुर वारी और इसका सांस्कृतिक महत्व **40-42**
हरिन्द्र कुमार मक्कड़

10. लिपिशास्त्र और व्याकरण के आलोक में वैश्विक भाषा विज्ञान **43-51**
डॉ. अनिल कुमार त्रिपाठी

11. जनजातीय समाज की हलमा संस्कृति **52-55**
शक्ति सिंह

12. जनजातीय संस्कृति और शिक्षा **56-58**
डॉ. इसपाक अली

13. घुमंतू बंजारा समुदाय के विविध संस्कार: साहित्य और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में **59-70**
प्रो. शैलेंद्रकुमार शर्मा

14. डुग्गर प्रदेश का डोगरी रंगमंच **71-77**
काजल सूरी

15. ''स्वास्तिक'' भारतीय संस्कृति का चिरंतन और सार्वभौम प्रतीक **78-82**
डॉ. राजेश्वर कुमार

16. भारत की आभूषण एवं श्रृंगार संस्कृति: आध्यात्मिक और वैज्ञानिक कारण **83-88**
डॉ. विशाला शर्मा

17. उज्जैन की लोकनाट्य विधा-माच **89-90**
डॉ. प्रीति पाण्डे

18. पांचाल प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर: तरणेतर का मेला **91-95**
समीर उपाध्याय 'ललित'

19. इंडोनेशिया में भारत की सांस्कृतिक समरसता **96-98**
डॉ. श्रद्धा वशिष्ठ

20. भारतीय संस्कृति: इतिहास, समाज और साहित्य के वातायन से **99-104**
हर्षित राय

21. अहिल्याबाई होल्कर की सांस्कृतिक चेतना **105-110**
डॉ. शीतल कुमारी

22. पंच परिवर्तन: समग्र विकास का भारतीय दृष्टिकोण **111-116**
डॉ. प्रशान्त वर्मा

23. चराइदेव मोइदाम: असम के पिरामिड और हमारी साझा धरोहर **117-118**
अमृता चौरसिया

24. भारतीय भाषाओं के मध्य सांस्कृतिक एकता **119-123**
आरती

25. भारतीय भाषाएं और वैश्वीकरण **124-130**
डॉ. ओम प्रकाश

विशेष अतिथि आलेख

संस्कृति : भारत की आत्मा, चेतना और भविष्य

डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक'
पूर्व केंद्रीय शिक्षा मंत्री, भारत सरकार

भारत की आत्मा को यदि किसी एक शब्द में पिरोया जाए, तो वह शब्द है संस्कृति। यह कोई वस्तु नहीं, कोई स्थान नहीं यह वह अदृश्य चेतना है, जो युगों से हमारी नस-नस में प्रवाहित हो रही है। यह वही चेतना है जो वेदों की ऋचाओं में गूंजती है, उपनिषदों में दर्शन बनकर उतरती है, नाट्यशास्त्र में अभिनय बनकर सजीव होती है और जो लोकगीतों की कोख से जन्म लेकर, पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमारी पहचान को परिभाषित करती है।

जब मुझे देश का शिक्षा मंत्री बनने का सौभाग्य मिला, तो यह दायित्व केवल प्रशासनिक नहीं था, यह मेरे लिए एक संस्कृति के संवाहक के रूप में कार्य करने का अवसर था। मुझे यह विश्वास था कि जिस देश की आत्मा उसकी संस्कृति है, उसकी शिक्षा नीति भी उसी आत्मा से जुड़ी होनी चाहिए। मैंने इस उत्तरदायित्व को केवल एक प्रशासनिक दायित्व नहीं माना यह मेरे लिए एक ऐसा अवसर था, जिसमें मुझे भारत की सनातन चेतना का संवाहक बनने का सौभाग्य मिला। यह भूमिका मुझे उस सांस्कृतिक धारा से जोड़ने वाली थी, जो नालंदा, तक्षशिला, विक्रमशिला जैसे प्राचीन विश्वविद्यालयों में सहज रूप से प्रवाहित होती थी जहाँ शिक्षा केवल ज्ञान का आदान-प्रदान नहीं, बल्कि जीवन मूल्यों और आत्मिक बोध का प्रसार थी।

मेरे मन में यह स्पष्ट विश्वास था कि भारत कोई भौगोलिक राष्ट्र मात्र नहीं, यह एक संस्कृति प्रधान राष्ट्र है और जिस देश की आत्मा उसकी संस्कृति हो, उसकी शिक्षा नीति भी उसी आत्मा से अनुप्राणित होनी चाहिए। मेरा प्रयास यह रहा कि नई पीढ़ी की शिक्षा केवल आधुनिक आवश्यकताओं को न साधे, बल्कि उन्हें अपनी जड़ों से जोड़े, उन्हें यह अनुभव कराए कि वे केवल छात्र नहीं, बल्कि उस अविरल सांस्कृतिक परंपरा के उत्तराधिकारी हैं, जिसने भारत को विश्वगुरु बनाया।

मेरी एक स्मरणीय भेंट यूनेस्को की महानिदेशक ऑड्रे अजोले से हुई। उन्होंने मुझसे अत्यंत गंभीरता से प्रश्न किया- "आज की दुनिया जिन संकटों से जूझ रही है- नारी उत्पीड़न, हिंसा, मानसिक तनाव, नशे की लत और विद्यालयों में गन कल्चर- इन सबका आप किस प्रकार उत्तर देते हैं?"

मैंने उन्हें अत्यंत आत्मविश्वास और सहजता से उत्तर दिया "भारत की संस्कृति ही इन सभी चुनौतियों का वास्तविक और सार्थक उत्तर है।" क्योंकि भारत की संस्कृति मात्र परंपराओं का अनुकरण नहीं, वह आत्मिक चेतना की जीवंत धारा है जो व्यक्ति को अंदर से रूपांतरित करती है और समाज को मूल्यों, मर्यादाओं और मानवीय गरिमा की डोर से बाँधती है। यही वह गूढ़ विचार था, जिसने हमें भारत के इतिहास में पहली बार एक ऐसी शिक्षा नीति गढ़ने की प्रेरणा दी जो केवल सूचना या अंकों की दौड़ तक सीमित न रहे, बल्कि व्यक्ति की अंतःप्रेरणा और चरित्र की गहराइयों तक पहुँचे। हमने शिक्षा को पुनः उसकी मूल भूमिका में प्रतिष्ठित किया। एक ऐसा माध्यम जो केवल प्रतिस्पर्धा में कुशल नहीं, बल्कि कर्तव्य में निष्ठावान, करुणा में प्रबुद्ध, और चरित्र में दृढ़ नागरिकों का निर्माण करे।

इस विश्वास को मूर्त रूप देने वाली नीति ही है नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनईपी 2020), जो हमारे सांस्कृतिक बोध की एक समकालीन अभिव्यक्ति है।

यह एक ऐसी शिक्षा नीति है जो भारत-केंद्रित है, भारत की सनातन जड़ों से अनुप्राणित है, और हमारी हजारों वर्षों की ज्ञान-परंपरा, साधना और सभ्यता पर आधारित है। इसमें मातृभाषा को शिक्षा का स्वाभाविक और सम्मानजनक माध्यम बनाया गया, संस्कृत को उसके वैदिक गौरव के अनुरूप पुनः प्रतिष्ठित किया गया, और वेद, योग, आयुर्वेद, नाट्यशास्त्र जैसे अमूल्य ज्ञानस्रोतों को शिक्षा की मुख्यधारा में पुनः स्थापित किया गया। यह नीति आधुनिक भारत के मन में छिपे सनातन भारत की पुकार है एक ऐसी पुकार जो हमें याद दिलाती है कि हम जितना नवाचार, विज्ञान और वैश्विक संवाद की दिशा में आगे बढ़ें, उतना ही अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रहना भी आवश्यक है क्योंकि वहीं से हमारी आत्मिक ऊर्जा, सांस्कृतिक स्थिरता और नैतिक प्रेरणा का स्रोत प्रस्फुटित होता है।

मैं जब भी भारत की शिक्षा, संस्कृति और ज्ञान परंपरा की बात करता हूँ, तो वह केवल एक नीतिगत उत्तरदायित्व नहीं होता- वह मेरे भीतर गहराई तक जमी हुई उस जड़ चेतना की पुकार होती है, जो मुझे बार-बार स्मरण कराती है कि मैं उस भूमि का पुत्र हूँ, जहाँ ज्ञान को साधना, भाषा को तपस्या, और संवेदना को दर्शन का स्वरूप प्राप्त हुआ है।

मुझे आज भी याद है जब अमेरिका के एक वरिष्ठ पत्रकार ने मुझसे एक प्रश्न किया, जो बहुत सीधा था, पर उसके पीछे गहरी मानसिकता छिपी थी। उन्होंने पूछा "आप संस्कृत और पारंपरिक भारतीय ज्ञान को इतना महत्व क्यों देते हैं?" मैंने क्षणभर मौन रहकर, फिर अत्यंत शांत स्वर में उत्तर दिया "**क्योंकि यदि मैं अपनी जड़ों से कट जाऊँ, तो उस पतंग की तरह हो जाऊँगा, जिसकी डोर टूट चुकी हो-हवा में तो होऊँगा, पर न दिशा होगी, न नियंत्रण, और न ही कोई ठिकाना...**"

भारत की सबसे बड़ी पूँजी उसकी संवेदनाशील ज्ञान परंपरा रही है ऐसी परंपरा जिसमें विज्ञान का विवेक भी है और आत्मा की अनुभूति भी। यह वह ज्ञान है जो केवल शास्त्रों तक सीमित नहीं, बल्कि जीवन के प्रत्येक पहलू में गूंजता है, प्रकृति के साथ संवाद से लेकर आत्मा की खोज तक। यही कारण है कि जब हम संस्कृत या भारतीय ज्ञान-विज्ञान की बात करते हैं, तो हम किसी बीते युग की स्मृति नहीं, बल्कि भविष्य की दिशा का उद्घोष करते हैं।

जब भी मुझे आदरणीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी जी के साथ विभिन्न विश्वविद्यालयों के दीक्षांत समारोहों में सम्मिलित होने का अवसर मिला, तो वह केवल एक मंचीय सहभागिता नहीं होती थी वह एक मौन संवाद होता था, संवेदना का आदान-प्रदान, जहाँ शब्दों से अधिक दृष्टिकोण बोलते थे और दृष्टिकोणों से अधिक मूल्यों की गूँज सुनाई देती थी।

"क्योंकि यदि मैं अपनी जड़ों से कट जाऊँ, तो उस पतंग की तरह हो जाऊँगा, जिसकी डोर टूट चुकी हो-हवा में तो होऊँगा, पर न दिशा होगी, न नियंत्रण, और न ही कोई ठिकाना..."

मैंने बार-बार अनुभव किया है कि आदरणीय प्रधानमंत्री जी का यह आग्रह केवल औपचारिक नहीं, बल्कि गहन और आत्मिक है कि भारत का युवा केवल आधुनिक ही न बने, वह भारतीय भी बने। उनका स्पष्ट संदेश होता है कि हम अपने युवाओं को वैश्विक प्रतिस्पर्धा के लिए सक्षम अवश्य बनाएं, लेकिन उस प्रक्रिया में उन्हें अपने राष्ट्र के आत्मस्वरूप से विलग न होने दें। वे सदैव कहते हैं "यदि आप तेज़ी से भाग रहे हैं, तो यह भी सुनिश्चित करें कि आपने अपनी जड़ों को थामा हुआ है।" यही वह विचार है जो भारत को केवल तकनीकी राष्ट्र नहीं, संस्कृति-संपन्न सभ्यता बनाता है। वह भारत, जो ज्ञान की पराकाष्ठा पर कभी विश्वगुरु कहलाता था, वह भारत, जिसने जीवन को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संतुलन में देखा, वह

भारत, जिसने "वसुधैव कुटुम्बकम्" को केवल श्लोक नहीं, व्यवहार बनाया उस भारत के हम उत्तराधिकारी हैं। यह उत्तराधिकार केवल इतिहास की धरोहर नहीं, कर्तव्य की पुकार है और यह पुकार हमें प्रधानमंत्री जी जैसे प्रेरक नेतृत्व से बार-बार सुनाई देती है जो कहती है "भारतीय बनो और इस भारतीयता को आधुनिकता में नहीं, अपनी चेतना में खोजो।"

भारतीय संस्कृति केवल शास्त्रों की वाणी नहीं, वह जीवन की साधना है एक ऐसा जीवन-दर्शन, जहाँ सत्य केवल कहने की वस्तु नहीं, जीने का प्रण है; अहिंसा केवल व्यवहार नहीं, बल्कि अंतर्मन की स्थिति है; और करुणा कोई कृपा नहीं, बल्कि सहज मानवीय स्वभाव है। संयम हमारे आत्मबल का प्रतीक है, क्षमा श्रेष्ठता का लक्षण, त्याग आत्मविकास का माध्यम और सह-अस्तित्व जीवन की अनिवार्यता। हमारी संस्कृति ने केवल उपदेश नहीं दिए, उसने अनुभव का मार्ग दिखाया हमारे ऋषियों ने ज्ञान को ग्रंथों तक सीमित नहीं रखा, उसे आचरण में उतारा। यही कारण है कि अजंता-एलोरा की चित्रकला, भरतनाट्यम की मुद्राएँ, कालिदास की कविताएँ और कबीर की साखियाँ सब आत्मा की ऊँचाई को जीने के माध्यम बन गए।

हमारे पर्व और उत्सव भी केवल उल्लास नहीं, आत्मिक अनुशासन, वैज्ञानिक दृष्टि और सामाजिक समरसता के प्रतीक हैं। दीपावली केवल दीपों का उत्सव नहीं, भीतर की ज्योति का जागरण है; होली केवल रंग नहीं, मन की मलिनता को धोने का अवसर है; मकर संक्रांति खगोलीय परिवर्तन नहीं, चेतना के नवचक्र का आरंभ है। व्रत और उपवास शरीर व मन को अनुशासित करने की वैज्ञानिक विधियाँ हैं, और तीर्थयात्राएँ आत्मा की यात्रा का प्रतीक। यही वह संस्कृति है जो आस्था में विवेक, परंपरा में प्रासंगिकता और जीवन में संतुलन का संदेश देती है जो केवल अतीत नहीं, वर्तमान की दिशा और भविष्य की बुनियाद है।

जब मैं भारत के शिक्षा मंत्री के रूप में कार्यरत था, तब मेरे भीतर सदैव यह प्रश्न गूंजता था कि क्या भारत की हजारों वर्षों पुरानी ऋषि परंपरा केवल हमारे लिए ही थी? क्या वेदों के शांति-सूत्र, जिनमें समस्त सृष्टि के लिए कल्याण की कामना है, केवल ग्रंथों में सुरक्षित रहने के लिए हैं? या फिर उनका स्वर आज भी उसी तीव्रता से गूंज सकता है न केवल भारत के भीतर, बल्कि समूची मानवता के हृदय में?

इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर मैंने अपने कार्यकाल में "**वेद और विश्वशांति**" अभियान की शुरुआत की एक ऐसा अभियान जो भारत की ऋषि परंपरा को केवल स्मृति नहीं, बल्कि विश्वमानव के लिए प्रकाश-स्तंभ के रूप में स्थापित करे। हमारा उद्देश्य स्पष्ट था वेदों में संचित वह शांति-दर्शन जो "सर्वे भवन्तु सुखिनः", "शं नो अस्तु द्विपदे", और "ॐ द्यौः शान्तिः" जैसे सूत्रों में प्रकट होता है, उसे सीमाओं से परे पहुँचाना। यह अभियान केवल एक आध्यात्मिक आह्वान नहीं था, यह मानवता के भीतर चेतना की पुनर्स्थापना की दिशा में एक सशक्त प्रयास था।

इस विचार को मूर्त रूप देने में यूनेस्को, विदेश मंत्रालय तथा भारत के विभिन्न दूतावासों का अभूतपूर्व सहयोग मिला। हमने देश-विदेश के विश्वविद्यालयों, सांस्कृतिक मंचों और अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में भारत के इस शांति-दर्शन को प्रस्तुत किया। वहाँ यह देखकर आत्मगौरव होता था कि वेदों की ऋचाएँ, जिनका मूल उद्गम हिमालय की घाटियों में हुआ था, आज मनुष्य की बेचैन आत्मा के लिए सांत्वना और समाधान का माध्यम बन रही हैं।

आज जब दुनिया कृत्रिम बुद्धिमत्ता, जेनेटिक इंजीनियरिंग, रोबोटिक जीवन और मशीन केंद्रित समाज की ओर बढ़ रही है तब मानवता एक मौन संकट से भी जूझ रही है। यह संकट है- आत्मिक रिक्तता का, अर्थ के अभाव का और आत्म-संपर्क टूट जाने का। ऐसी स्थिति में भारत का सन्देश स्पष्ट और

कालातीत है "पहले स्वयं को जानो। "यह वही उद्घोष है जो उपनिषदों ने 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'नेति नेति' के माध्यम से किया था।

आज के आधुनिक विचारक, जैसे डॉ. टोनी नाडर, जब कहते हैं- "**Consciousness is all there is**." तो वे भारत की सनातन ज्ञानधारा को ही एक नई वैश्विक भाषा में दोहरा रहे होते हैं क्योंकि भारत का ज्ञान कभी केवल सूचना नहीं रहा वह सदा से चेतना का विज्ञान रहा है। यहाँ गणित और ध्यान, संगीत और साधना, भाषा और भाव -सभी का केंद्र मानव की जागृत चेतना रही है। हमारा ज्ञान न बाहर से आता है, न समाप्त होता है यह चेतना से आरंभ होता है और चेतना में ही विलीन हो जाता है। यही है भारत। यही है उसकी संस्कृति।

यही है वह संदेश जो भारत केवल अपने लिए नहीं, पूरे विश्व के लिए लेकर खड़ा है कि जब संसार मशीनों से भर जाए, तब भी मानव का मर्म केवल आत्मा से जुड़ने में है।

आज जब मैं देखता हूँ कि भारत का युवा आधुनिक तकनीक से युक्त, वैश्विक सोच से समृद्ध फिर भी गीता के श्लोकों को पढ़ रहा है, योगासन में शरीर के साथ चित्त को भी साध रहा है, उपनिषदों की गूढ़ बातों में रस ले रहा है, और संस्कृत बोलने का संकोच नहीं, गर्व अनुभव कर रहा है तो मेरा विश्वास अडिग हो उठता है कि भारत पुनः अपनी उस भूमिका की ओर बढ़ रहा है, जहाँ वह केवल एक राष्ट्र नहीं, पूरे विश्व के लिए सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पथप्रदर्शक होगा।

यह कोई आशावादी कल्पना नहीं, बल्कि एक सशक्त सांस्कृतिक पुनर्जागरण का संकेत है। यह वह भारत है जिसकी कल्पना महर्षि अरविंद ने अपने दर्शन में की थी- जहाँ "भारत माता" केवल एक भूमि नहीं, चेतना की मूर्तिमान अभिव्यक्ति है। यह वही भारत है जिसकी गूंज स्वामी विवेकानंद के शब्दों में शिकागो के मंच से उठी थी "मैं उस धर्म का प्रतिनिधि हूँ जो सभी धर्मों को सत्य मानता है।" यह वही भारत है जिसे गांधी जी ने अपने त्याग और नैतिक साहस के द्वारा जगत में प्रस्तुत किया और जिसे विनोबा भावे ने भविष्य की संवैधानिक आत्मा के रूप में पहचाना।

इन महान आत्माओं के शब्द केवल भाषण नहीं थे वे संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा की उद्घोषणाएँ थीं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि भारतीयता कोई जड़ परंपरा नहीं, बल्कि एक जीवंत ऊर्जा है जो समय के प्रवाह में बहती तो है, परंतु अपनी दिशा नहीं खोती। उन्होंने यह भी बताया कि आधुनिकता का मार्ग भारतीयता से होकर भी जा सकता है, और यह दोनों परस्पर विरोध नहीं, एक ही ज्ञान-सूत्र की दो धाराएँ हैं।

भारत के गाँवों में आज भी वह ध्वनि गूंजती है जो केवल गीत नहीं, दर्शन है। हल चलाते किसान के स्वर में तप है, मंदिरों की घंटियों में जागरण है, और बचपन की कथाओं में नीति का सहज बोध है। पंचतंत्र और हितोपदेश केवल मनोरंजन नहीं, जीवन का मार्गदर्शन हैं। रामायण और महाभारत केवल इतिहास नहीं, मानव प्रकृति का गूढ़ अध्याय हैं।

यह देखकर आश्चर्य नहीं, बल्कि गर्व होता है कि आज विश्व के नामचीन विश्वविद्यालय हार्वर्ड, ऑक्सफोर्ड, स्टैनफोर्ड- भारतीय ज्ञान पद्धति, आयुर्वेद और योग और वैदिक गणित जैसे विषयों को अपने पाठ्यक्रमों में सम्मिलित कर रहे हैं। वे अब यह स्वीकार कर रहे हैं कि भारत के पास केवल पुरातन ज्ञान नहीं, समय-सिद्ध और भविष्यद्रष्टा दृष्टिकोण है- जो आज की भटकी हुई दुनिया को मार्ग दिखा सकता है।

अपनी संस्कृति को संग्रहालयों में नहीं, मन और व्यवहार में पुनः प्रतिष्ठित करें। हमें अगली पीढ़ी को केवल ज्ञान ही नहीं, संस्कार, केवल तकनीक ही नहीं, तत्व-बोध, और केवल प्रतिस्पर्धा ही नहीं, कर्तव्य-बोध देना होगा क्योंकि शिक्षा केवल तब सार्थक है जब वह मनुष्य को मानव बनने की प्रक्रिया सिखाए। और संस्कृति तभी प्रासंगिक है जब वह मानव को आत्मा से जोड़ दे, उसे स्व के पार ले जाए जहाँ वह केवल उपभोक्ता नहीं, सर्जक और साधक भी बन सके।

मुझे इक़बाल की वह अमर पंक्तियाँ बार-बार याद आती हैं:

"कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौर-ए-ज़माँ हमारा..."

वह 'कुछ बात' जो इक़बाल ने अनुभव की वह कोई भौतिक बल नहीं था। वह था हमारी संस्कृति का अमर स्वर, हमारी आत्मिक चेतना का तेज, और

क्या यह संकेत पर्याप्त नहीं कि अब दुनिया भारत की ओर देख रही है एक नए भरोसे, एक गहरी जिज्ञासा और एक मौन सम्मान के साथ? अब समय आ गया है कि हम भी भारत को केवल दूसरों की नजर से नहीं, अपनी आत्मिक दृष्टि से देखें। हम हमारे सभ्यतागत आत्मगौरव का अविचल विश्वास। और आज, जब भारत उस चेतना को फिर से जीने को आतुर है-तो निश्चय ही, विश्वगुरु भारत का सूर्योदय अब दूर नहीं।

*****

भारतीय दर्शन एवं संस्कृति

अतुल कोठारी
राष्ट्रीय सचिव, शिक्षा संस्कृति
उत्थान न्यास

भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में संसार के प्रत्येक अंग और घटक में एकत्व की परिकल्पना की गई है। इसमें 'स्व' से 'परमतत्व' तक का विस्तार है। इसी का प्रभाव है कि यहां 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः' का विचार-सूत्र दिया गया है। इस विचार सूत्र द्वारा हमने जड़-चेतन के एकत्व और कल्याण की कामना की है। विश्वकल्याण के लिए प्रकृति और जीव के बीच के पारस्परिक संबंध को स्वीकार करते हुए शाश्वत विकास की ओर प्रस्थान किया है। इसी का प्रभाव है कि भारतीय संस्कृति में जीव और जगत के बीच पारस्परिकता और कल्याण को नैतिक आचरण माना गया है, जो इसका मूल धर्म है। इस भाव को सातत्यपूर्ण रूप से जारी रखने के लिए दैनिक रीति-रिवाज और पूजा पाठ के दौरान हम 'धर्म की जय और अधर्म के नाश' की कामना करते हैं। हमारे लिए धर्म पूजा-पाठ की पद्धति या पंथ मात्र नहीं है, बल्कि एक जीवन-दर्शन है, जो विचार और अनुभूति को अनुप्राणित करता है, और व्यक्ति को लोक कल्याण के वृहद् लक्ष्य की ओर उन्मुख करता है। यहाँ लोक कल्याण के भाव को स्वांतः सुखाय मानते हुए इसे व्यक्ति के जीवन का आदर्श माना गया है। विवेकानंद जी ने कहा था कि भारत के दो आदर्श हैं- त्याग और सेवा। ये आदर्श ही भारतीय समाज को स्व और स्वार्थ केंद्रित मनोभूमि से ऊपर उठाकर पारस्परिकता एवं एकत्व की ओर अग्रसर करते हैं, इसी से समावेशी समाज की नींव तैयार होती है। भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में एकत्व 'शब्द' नहीं अनुभूति है। इससे एक जीवन-दृष्टि निर्मित होती है। इसे ही शब्दों में व्यक्त करते हैं, तब दर्शन बनता है। इसके चिंतन से मनोविज्ञान जन्मता है। इसी से मूल्य निर्माण होता है, तब इसको व्यवहार में लाने हेतु आचरण की बात आती है, तदंतर संस्कृति का निर्माण होता है।

'दर्शन' शब्द 'दृश्' घातु से निर्मित है। दर्शन का अर्थ है 'दृष्यते अनेन् इति दर्शनम्' अर्थात जिसके द्वारा देखा जाए और जो कुछ देखा जाए, वह दर्शन है। दर्शन शब्द से अभिप्राय है – अवलोकन करना। अवलोकन, आंतरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार का हो सकता है। भारतीय दृष्टि में दर्शन से अभिप्राय – व्यष्टि से विश्व एवं परमेष्टि (आत्मा, परमात्मा एवं प्रकृति) के रहस्यों को तर्क एवं अनुभव के आधार पर संपूर्णता में समझने का प्रयास अर्थात् यथार्थ तत्व का ज्ञान है,जिसके द्वारा सत्य का साक्षात्कार हो (यहां सत्य का अभिप्राय सृष्टि के मूल में स्थित शाश्वत सनातन से है)। विख्यात दार्शनिक प्लेटो ने कहा है कि 'दर्शन का उद्देश्य वस्तुओं के शाश्वत अथवा मूल स्वरूप का अन्वेषण करना है। अरस्तू ने कहा है कि 'दर्शन वह विज्ञान है, जो परमतत्व के यथार्थ स्वरूप की जांच करता है'।

अंग्रेजी में दर्शन के लिए 'फिलॉसफी' शब्द का प्रयोग होता है। 'फिलॉसफी' लैटिन शब्द है, और दो शब्दों 'फिलॉस' और 'सोफिया' 'फिलॉस' का अर्थ है 'प्रेम' तथा 'सोफिया' का अर्थ है बुद्धि। इस प्रकार फिलॉसफी का अर्थ बुद्धि-प्रेम है। जब दर्शन शब्द से इसकी तुलना करते हैं तो ध्यान में आता है कि दर्शन मात्र बुद्धि प्रेम तक सीमित नहीं है इसका बहुत व्यापक अर्थ है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार एक मूल तत्व है, जिसको हम ईश्वर, भगवान आदि नामों से पुकारते हैं, उसी से सारी सृष्टि का निर्माण हुआ है। इस दृष्टि से हम सब उस ईश्वर की संतान हैं। इसलिए ब्रह्मा को सृष्टि का पिता कहा गया है। एक ही मूल तत्व से निर्मित मनुष्य, जीव-जंतु, पशु-पक्षी, जड़-चेतन हैं। यही आध्यात्मिक दृष्टि है। आध्यात्मिकता से तात्पर्य है, अपने अंदर गहराई से देखना और अपने आपको पहचानना, अंतर्मुखी होना, आत्मा की ओर मुड़ना। मनुष्य अपने अंदर गहराई से सतत, सातत्यपूर्ण देखने का प्रयास करता है, तब उनके मन में प्रश्न उठते हैं कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, मेरे अस्तित्व का तात्पर्य क्या है? जब इनका उत्तर मिलता है तो व्यक्ति मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने की दिशा में आगे बढ़ता है। यही हमारा जीवन-दर्शन है। भारतीय दर्शन एवं संस्कृति का मूल आधार है आध्यात्मिकता। भारतीय संस्कृति सनातन है। संस्कृति का शाब्दिक अर्थ सम्यक कृति है। हमारे यहां हर बात का संतुलित विचार किया गया है। अंतिमवादी सोच यहां कभी स्वीकार नहीं है। सनातन का तात्पर्य है 'नित नूतन, चिर पूरातन' अर्थात जो नित्य नया होते हुए भी अपनी परंपराओं से जुड़कर अपने उत्स को प्राप्त करता है, वही सनातन है। हमारी संस्कृति सहिष्णु, सर्वसमावेशी एवं सह-अस्तित्व को मानने वाली है।

संस्कृति की परिभाषा करते हुए यूनेस्को द्वारा प्रकाशित ग्रंथ 'ट्रेडीशनल कल्चर्स इन साऊथ ईस्ट एशिया' में कहा गया है, संस्कृति का अर्थ है- किसी भी समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किए जानेवाले जड़-पदार्थ, कल्पनाओं, प्रतीकों, मतों, भावों, मूल्यों और सामाजिक शैलियों का संचय। संस्कृति जब बाह्य रूप में पहनावे, आचरण की पद्धतियों, स्थापत्य- कला कौशल आदि अनेक बातों में अभिव्यक्त होती है, तब इसे सभ्यता कहते हैं।

ऐसी वृहदतर मूल्यों वाली भारतीय संस्कृति के बारे में मार्क टवेन ने कहा कि "भारत उपासना पंथों की भूमि, मानव जाति का पालना, भाषा की जन्मस्थली, इतिहास की माता, पुराणों की दादी तथा परंपराओं की परदादी है। मनुष्य के इतिहास में जो भी मूल्यवान एवं सृजनशील सामग्री है, उसका भंडार अकेले भारत में है।" भारत की प्रत्येक दार्शनिक परंपरा ने जीव-जगत तथा परमात्मा के स्वरूप व आपसी संबंधों का तार्किक, वैज्ञानिक एवं अनुभूतिजन्य विश्लेषण करने के प्रयत्न सतत व सातत्यपूर्ण किए हैं। इस प्रयास में विविध दर्शनों की यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर रही है। इनमें कभी-कभी विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है, परंतु गहराई से विश्लेषण करने पर ध्यान में आता है कि उन सब में एकत्व के सूत्र समाहित हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन ने सुख-दुख से परे की अवस्था को मोक्ष कहा है। सांख्य ने भी दुःखों से मुक्ति कहा है। वेदांत ने मोक्ष, जैन मत ने कैवल्य तथा बौद्ध मत ने निर्वाण कहा है। सभी ने उस चरम अवस्था का वर्णन एक ऐसी स्थिति के रूप में किया है, जहां पहुंचकर मनुष्य कर्म के बंधन से मुक्त होकर परम शांति की अनुभूति करता है। इसी प्रकार सनातन परंपरा में धर्म के दस लक्षण बताए गए हैं-धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध। जैन पंथ, पतंजलि योग दर्शन एवं रामायण-महाभारत में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, आदि मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है। गुरुवाणी में कहा गया है कि सत्य सबसे ऊपर है, यदि उससे ऊपर कुछ और है तो सत्य का आचरण है। बौद्ध मत में मैत्री, करुणा, उपकार, जीव-दया पर बल दिया गया है। अर्थात मार्ग अलग-अलग होते हुए भी इनका गंतव्य एक है। यह गंतव्य आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख है, जो भेद के स्थान पर विविधता यह मूल एक तत्व की अभिव्यक्ति रूप में देखता है। उन्हें फलने-फूलने का मौका देता

है। इसी का परिणाम है कि भारतीय समाज अनंत काल से ही समावेशी है, जो भी बाहर से आया उसे यहां स्नेह, सत्कार और स्वीकृति मिली। इसके पीछे 'अतिथि देवो भव' और 'वसुधैव कुटुंबकम की' भावना रही है, जो समग्र विश्व को एक परिवार के रूप में देखती है। यह मूल्य हमारी संस्कृति के साथ-साथ हमारी ज्ञान परंपरा में भी रचा बसा है। भारत एकमात्र ऐसा देश है, जिसमें सत्य के अन्वेषण हेतु असहमत होने की स्वीकृति है। इसलिए हमारे ऋषियों ने कहा है कि 'वादे-वादे जायते तत्व बोधः' अर्थात संवाद से ही सत्य का बोध होता है। हमारी ज्ञान परंपरा में कोई एकल विचार, एकल दर्शन, एकल पूजा पद्धति आदि स्वीकार नहीं है। ईश्वर एक है उस गंतव्य तक पहुंचने के मार्ग अलग-अलग हो सकते हैं। यही भारतीय संस्कृति व परंपरा की विशेषता है।

भारतीय दर्शन और संस्कृति की निरंतर परंपरा में सभी बातों की देशकाल सापेक्ष व्याख्याएं होती रही हैं। हर व्याख्या में तर्क और औचित्य समाहित रहा है। हमने धर्म की स्थापना और रक्षा को सर्वोपरि माना है। आधुनिक भारत की संस्थाओं में भी यही लक्ष्य प्रतिध्वनित होते हैं। उदाहरण के लिए भारत के उच्चतम न्यायालय का आदर्श वाक्य है- यतोधर्मस्ततो जयः। भारतीय संस्कृति की इसी सार्वभौमिकता और सर्वकालिकता को ध्यान में रखते हुए विवेकानंद ने कहा है कि विश्व को धर्म एवं आध्यात्म का ज्ञान भारत ही दे सकता है। आध्यात्मिकता ही भारत की आत्मा है जो इसके शाश्वत सांस्कृतिक प्रवाह में चिरस्थायी है। इसकी ऊर्जा से भारत विश्व को प्रकाशित कर रहा है। हमारे लोक चिंतक इसी प्रकाश की किरण बनकर अपने विचारों से जगत को आलोकित करते रहे हैं। नेता जी सुभाषचंद्र बोस का भी मानना था कि "भारतीय संस्कृति में ऐसा कुछ है, जो विश्व मानव के लिए बहुत ही आवश्यक है और इसे ग्रहण किए बिना विश्व सभ्यता वास्तविक उन्नति नहीं पा सकती।" योगी अरविंद का कहना था की "विश्व शांति और नई विश्व व्यवस्था के लिए भारत ही विश्व को नेतृत्व प्रदान कर सकता है।" इसी परंपरा से अनुप्राणित शिवाजी महाराज राज्य और धर्म का संबंध इतना गहरा मानते थे कि वे कहते थे कि 'राज उनका नहीं है, बल्कि धर्म का है।' इस तरह से भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में धर्म एक ऐसा तत्व है जो व्यक्ति और समाज के लिए उच्च आदर्शों का प्रतिपादन करता है और एक ऐसे समाज की कल्पना करता है, जो क्षुद्र और भौतिक स्वार्थों से परे आध्यात्मिक संतुष्टि और कल्याण की ओर अग्रसर हो।

भारतीय परंपरा में इसका व्यावहारिक स्वरूप चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) और चार पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) हमें दैनिक जीवन में करणीय और अकरणीय का बोध कराते हुए मुक्ति की ओर ले जाता है। इस बोध से युक्त व्यक्ति केवल अपने लिए नहीं जीता है, बल्कि वह वसुधैव कुटुम्बकम की भावना से विश्व कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होकर सप्तपदी (व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व, सृष्टि एवं परमेष्टि) यात्रा का पथिक बनता है। भारत में तत्व ज्ञान के क्षेत्र में खोज की दीर्घकालीन परंपरा रही है। इसमें से एक सर्वसमावेशक- सर्वकालिक व सार्वभौमिक तत्वज्ञान की अभिव्यक्ति हुई। यह समूचे विश्व के लिए भूतकाल में मार्गदर्शक था, अपितु वर्तमान और भविष्य के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है और रहेगा। इसी तत्वज्ञान को व्यवहार में प्रयोग हेतु कुछ नियम बने उसी को धर्म कहा गया। इसके नियमित अभ्यास से समाज में एक दृष्टि, मान्यताएं व परंपराएं बनी उसी को भारतीय संस्कृति कहा गया। उस संस्कृति का प्रभाव समाज-जीवन के खान-पान, पहनावे, स्थापत्य, कला-कौशल आदि पर पड़ा इसी को सभ्यता कहते हैं। इस प्रकार भारत में दर्शन, धर्म, संस्कृति और सभ्यता परस्पर पूरक रही हैं।

*****

गढ़वाल उत्तराखंड की पारंपरिक विरासत लोक संगीत

डॉ. माधुरी बड़थ्वाल, पद्मश्री
लोक संगीत संरक्षिका

महाराजा भरत की जन्मस्थली, भारतीय संस्कृति का विशिष्ट भू:भाग उत्तराखंड। इस वसुन्धरा के एक भाग को अलंकृत करता गढ़वाल। अलकनन्दा, भागीरथी, यमुना, मंदाकिनी, टौंस, धौली, नयार, जान्हवी आदि नदियाँ जिस भू:भाग को अपने अमृत जल से सिंचित करती हैं। इन्ही नदी द्रोणियों से बना हुआ है यह श्रीबद्री-केदारखंड। महाकवि कालिदास ने गढ़वाल के सौन्दर्य और शान्त सुरभियुक्त वातावरण से मुग्ध होकर इसे देवभूमि की संज्ञा दी थी। पाली साहित्य में इसको चुल्ल हिमवन्त कहा गया है। यही गंगा यमुना का उद्गम स्थल गढवाल अनेक सांस्कृतिक समन्वय व ऐतिहासिक परम्पराओं से ओत प्रोत है। इस क्षेत्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ का हर प्राणी पूर्ण रूपेण आध्यात्म और प्रकृति से ही जुड़ा हुआ है।

उत्तराखंड का स्मरण करते ही स्मृतिपटल पर उभर आती है हिमालय की रमणीक हिमाच्छादित पर्वत श्रेणियाँ, चार धाम, फल, फूलों से भरे हुये पहाड़, भाँति-भाँति के पक्षी और उनका मधुमिश्रित स्वर, गंगा, यमुना पवित्र नदियाँ, सीढ़ीनुमा खेत उनमें विचरते पशु, शैल बालायें, शांत, स्वच्छ वातावरण में दूर-दूर से आती आवाज़ें, ऐसी मधुर कि हर स्वर मधु मिश्रित। चाहे वह पशु -पक्षी का हो, किसी साज़ या फिर सास और माँ और सगे संबंधियों द्वारा अपनी बहू- बेटी या संबंधियों को पुकारने का। चारों ओर संगीतमय वातावरण। सृष्टि रचना की सुप्रभात बेला में सर्व प्रथम समुद्र के गर्भ से जिस स्थान पर निराकार ब्रह्म का साकार रूप में आविर्भाव हुआ वेद-पुराणों में उसी को हिमवंत नाम से संबोधित किया जाता है। महाकवि कालीदास के देवात्मा हिमाद्रि-स्थित केदार मानसखंड की प्राचीनता के संदर्भ में कहा जाता है कि, भगवान शिव ने उद्घोष किया कि-''जैसे मैं प्राचीन हूँ उसी प्रकार केदारखंड भी प्राचीन है। जब मैं ब्रह्ममूर्ति धारण कर सृष्टि रचना में प्रवृत्त हुआ, तब मैं ने इसी स्थान पर सर्व प्रथम सृष्टि रचना की।'' वर्तमान में इसी स्थान को उत्तराखंड की संज्ञा से विभूषित किया गया। वर्तमान उत्तराखंड के गढ़वाल भूभाग को प्राचीन काल से केदारखंड, बद्रिकाश्रम, उत्तराखंड, स्वर्गभूमि, तपोभूमि या हिमवंत नाम से जाना जाता रहा है। इस क्षेत्र विशेष को गढ़वाल संज्ञा से पंद्रहवीं शताब्दि में विभूषित किया गया। वर्तमान में जौनसार क्षेत्र भी इसी भूभाग में अवस्थित है।

गढ़वाल का लोक संगीत ''गायन, वादन और नृत्य तीनों कलाओं के समावेश को संगीत कहते हैं।'' संगीत की इस परिभाषा से विलग नहीं है। यहाँ के निवासियों को आदिकाल से ही संगीत अपने पूर्वजों से विरासत में मिला है, जिसमें लोक मंगल की समृद्ध परम्परा है। लोक संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन और नृत्य की समृद्ध लोक परम्परा है। सम्पूर्ण गढ़वाल में गाये जाने वाले लोकगीत भाषा और संगीत की दृष्टि से थोड़ी-थोड़ी दूरी पर परिवर्तनशील हैं, किन्तु अधिकतर में भाव एक ही हैं।

लोक संस्कृति का यह भंडार संगीत द्वारा सामाजिक जीवन से संरक्षित संस्कार, आदर्श उद्देश्य, नीति, कल्पना, स्वप्न, प्रेम, आशा, कामना, इतिहास, भूगोल, समाज कल्याण भावना की एक समृद्ध, आत्मिक, हृदय ग्राही धरोहर है। इनमें कुछ लोकगीत नृत्य प्रधान, कुछ गायन, कुछ आलाप प्रधान व कुछ केवल भाव प्रधान हैं। यूँ तो भाव प्रधान सभी हैं किन्तु कुछ गद्य शैली के ताल प्रधान भी हैं। अधिकतर

लोकगीतों की ताल संगत ढोल-दमौं, डौंर-थाली, हुड़का, ढोलक, ढपली, मोछंग से की जाती है। पौराणिक लोकवाद्य ढोल-दमाऊँ से संदर्भित ढोल सागर में भी छत्तिस वाद्य यंत्रों का उल्लेख मिलता है। जिह्वा, शंख, जाम, ताल, जंत्र, किंगरी, डंडी, नकफेरा, सिणाई, बीन, बन्सरी, रामसोर, अलगोजा, मुरली, बिणाई, निमत्ती, सितार, खिंजरी, सारंगी, मोछंग, भृगवा, तबला, हुड़की, भेरी, बुरग, रणसिंगा, तुर्री, करनाल, घंटा, घुँघरू, डौंरु, थाली, भाणु, नगाड़ा, दमौं, ढोल छत्तिस वाद्य यंत्र। किन्हीं लोकगीतों में बावन वाद्य भी बताए गये हैं। वर्तमान में अधिकतर लोकवाद्य तो लुप्त ही हो गए हैं।

लोकगीत जो लोक संस्कृति के सबसे पौराणिक आख्यान हैं, पीढ़ी दर पीढ़ी विरासत में मिली परम्परागत मौखिक सारगर्भित शब्दों की वह संगीत बद्ध रचना, जिसमें जन-जन की खट्टी-मीठी सम्वेदनाओं का मर्म हो लोकगीत कहलाती है। लोकगीत किसी व्यक्ति विशेष का न होकर जन साधारण की धरोहर है। व्यक्ति विशेष की रचना सुगम संगीत के अंतर्गत आती है। सुगम संगीत में गीत, भजन या ग़ज़ल के साथ रचनाकार का नाम हमेशा जुड़ा रहता है। हज़ारों वर्ष पुराने ग्रंथों के रचनाकार का नाम हमेशा से जुड़ा हुआ है, जैसे उदाहरण स्वरूप श्री रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास युगों तक अमर रहेंगे जब तक ये धरती माता है। गढ़वाल के थड्या या चॉछड़ी लोकगीत में कहा गया है कि -जब देवताओं को धरती पर सब जगह अशुद्ध वातावरण दिखाई दिया तो उन्होंने यही कहा कि-उत्तराखंड की भूमि सबसे पवित्र भूमि है वहीं चलते हैं। यथा:-

जै जै बदरीनाथ जी झमको। जै जै बदरीनाथ जी झमको।

चल चल द्यवताओं जी झमको। चल चल द्यवताओं जी झमको

उतराखूँट जौला जी झमको। उतराखूँट जौला जी झमको।

इसी तपोभूमि में पुण्य ग्रंथों की रचना हुई है। मानव सभ्यता के पहले पायदान से ही साधारण लोक वासियों ने ऋषि मुनियों की वाणी सुनकर आत्मसात कर सृष्टि की रचना से लेकर ही अनेक अत्यंत पौराणिक आख्यान यहाँ के लोकगीतों में वर्णित किये

मनु लोक सांस्कृतिक धरोहर संवर्द्धन संस्थान में प्रशिक्षित बहिनों द्वारा हरेला लोकपर्व पर आयोजित समारोह में मंच पर लोकगीत प्रस्तुति।

हैं, जो लोक संस्कृति की धरोहर हैं। माता पार्वती का मायका, जन्म स्थल। भगवान शिव का निवास, चारों धाम अवस्थित हैं। इसीलिये इस देवभूमि की लोक संस्कृति अधिकतर आध्यात्म और प्रकृति की गोद में पली-बढ़ी है। किसी भी क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्परा में लोक संगीत की अहम भूमिका होती है अतः लोक संगीत ही लोक संस्कृति का सच्चा संवाहक है। लोकगीत किसी एक व्यक्ति की सम्पति बनकर नहीं रहते। इनमें जन-जन की आत्मा बसती है। मैं से नहीं हम द्वारा रचे बसे हैं इसीलिए लोकगीत हमारी धरोहर हैं। स्वर, लय, छंद बद्ध गढ़वाली लोकगीतों के विभिन्न प्रकारों को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता हैः धार्मिक, सामाजिक।

धार्मिक लोकगीत- यूं तो धार्मिक लोकगीत भी सामाज के ही हैं, किन्तु इनके गायन की एक नियम और आस्था बद्ध परंपरा है। जागर गायक, जो जागरी कहलाते हैं, जागर लोक गाथाओं को विधि विधान से शुद्ध स्थान, शारीरिक शुद्धता, गूढ़ ज्ञान के साथ गाते हैं। जागर वृहद काव्य गाथायें होती हैं। जागर गाथा या अन्य लोक गाथाओं के कुछ सरल जनसाधारण के ग्राह्य पारंपरिक नैसर्गिक धुनों में सृजित काव्य, जो जन, मन, रंजन करें, जो आम जन को पुलकित करें, आम जन उस लोक गाथा के अंश को मनोरंजन के लिये स्वच्छंद होकर आत्मसात कर लेता है। मनोरंजनार्थ फिर ये अंश थड्या या अन्य लोकगीतों के रूप में भी गाये जाते हैं। जागर लोक गाथाओं का वर्गीकरण इस प्रकार हैः-देवी, देवताओं के जागर लोकगीत। रख्वाली, झाड़ो-ताड़ो, हंत्या के जागर लोकगीत। सैद्वली। भूतप्रेत, ऑछरी के मनौती लोकगीत। पॅवाड़ा, भड़ैलो, रॉसो।

सामाजिक लोकगीत-जन सामान्य द्वारा स्वछंदता पूर्वक गाये जाने वाले लोकगीतों को सामाजिक लोकगीतों की श्रेणी में रखा गया है। क्योंकि मन के भावों को व्यक्त करने का सबसे सुलभ माध्यम है गाना या रोना। जो सबको आता है। ये अलग बात है कोई प्रदर्षित करता है, कोई मन में रखता है। लोक गीत सबकी आत्मा से जुड़े होते हैं इसलिये इनमें सब शामिल होते हैं। सामाजिक लोकगीतों का वर्गीकरण इस प्रकार है:-

1-संस्कार लोकगीत-मॉगल, मॉगड़- सोलह संस्कारों में गाए जाने वाले लोकगीत मॉगल या जौनसार क्षेत्र में मॉगड़ कहलाते हैं। इनमें वेदवाणी गुंफित होती है। मॉगल गायन करने वाली, नारी समूह मंगळेरी कहलाती हैं। किसी भी पर्व उत्सव या शुभ समारोह का शुभारंभ दीप प्रज्वलित करते हुए मॉगल गायन के साथ किया जाता है। गणपति गंणेश जी के साथ सभी देवी देवताओं से जय और यश प्रदान करने और दाहिने होने की कामना की जाती है। यथाः-

जौ जस देन खोली का गणेश। जौ जस देन मोरी का नारैण।।

जौ जस देन श्री पंच बद्रीनाथ। जौ जस देन पंच केदारनाथ।।

दैण हुयॉ माता राजराजेश्वरी। दैण हुयॉ पंचनाम देव।।

2-आंगन के लोकगीत -थड़्या, चौंफुला, ऋतु

मांगल सुदूर स्थान पर औरथड़्या, झोड़ा, चौंफुला लोकनृत्य मंच पर प्रस्तुत।

संदर्भित नृत्य प्रधान लोकगीत और बालगीत। ये लोकगीत बसंत पंचमी से विषुवत संक्रांति तक ही गाए जाते हैं। जिन लोकगीतों में किसी ऋतु संदर्भित आख्यान होते हैं वे ऋतु पर्व में भी गाए जाते हैं लेकिन मन में उमड़ते भाव के अनुकूल कुछ लोकगीतों को छोड़ कर, कोई भी लोकगीत कोई व्यक्ति कभी भी गा सकता है।

3-ऋतु प्रधान लोकगीत-चैती पॅसारा, बारामासा, झुमैलो, छूड़ा, बसंत, ग्रीष्म, हेमंत, वर्षा, शरद, शीत ऋतु संदर्भित लोकगीत। चौंफुला लोकगीत में कहा गया है- ऋतु मा ऋतु का ऋतु बड़ी? ऋतु मा ऋतु बसंत बड़ी।

4-तीज त्योहार, मेले प्रधान लोकगीत- होली, बाजूबंद, झोड़ा, थड़्या, चौंफुला, चॉछड़ी, छोपती, छपेली, फौंफती, तॉदी, नाटी, हारुल, धूपछाड़ा, लामण, मौण, झैंता, बालगीत आदि।

5-वियोग या करुणरस प्रधान लोकगीत-खुदेड़, आलाप प्रधान न्योली, आलाप प्रधान झुमैलो लोकगीत।

6- हास्य-व्यंग्य प्रधान लोकगीत।

7- घटना प्रधान लोकगीत।

8-देव यात्रा प्रधान लोकगीत, निर्गुण।

9-चखुल्या और विकास लोकगीत।

10- व्यवसायिक लोकगीत-बद्दी लोकगीत, हुड़क्या, जंगु।

11-लोक गाथायें- वीर भड़ों की गाथायें भड़ैलो कहलाती हैं, प्रणय गाथाएँ, वीर बालाओं की गाथाएँ।

इस प्रकार गढ़वाल की लोक सांस्कृतिक विरासत लोक संगीत की समृद्ध लोक परंपरा को अति संक्षेप में विलुप्त होने से बचाने के आशय से प्रस्तुत किया। लोक संगीत हमारी संस्कृति का संवर्द्धक है, हमारी पहचान है। अपनी पहचान को संरक्षित कर अपने दायित्व निर्वहन करना हम सभी का कर्तव्य है। लोक संगीत के संवर्द्धन से वर्तमान में विश्व स्तर पर हमारे रहन सहन वेशभूषा का प्रचार प्रसार होने से एक पहचान भी मिल रही है इसलिए लोक संगीत का संरक्षण परम आवश्यक है। शुभमस्तु।

*****

समुद्री किलों का वैभव और मराठा साम्राज्य

अरविंद कुमार सिंह
वरिष्ठ पत्रकार और लेखक

भारत का समुद्री क्षेत्र काफी विस्तृत है। भारतीय तटीय रेखा 7,516 किमी है, जिसके दायरे में हमारे 13 बड़े बंदरगाह और करीब 200 छोटे बंदरगाह आते हैं। हमारा समुद्र तट पश्चिम में नए कांडला से लेकर पूर्व में कोलकाता तक नौ राज्यों औऱ चार संघ राज्य क्षेत्रों में विस्तृत है। तटीय इलाकों का अपना अलग भूगोल और अर्थतंत्र है, जो देश को मजबूती देता है। आर्थिक विकास और व्यापार में समुद्री क्षेत्र बेहद अहम भूमिका में है। देश के कुल व्यापार का 95 फीसदी और व्यापार मूल्य का 66 समुद्री परिवहन से होता है। केवल व्यापार ही नहीं, हमारी सभ्यता, संस्कृति और स्थापत्य में समुद्री इलाकों का गौरवशाली इतिहास है। समुद्र तट पर बहुत सी प्राकृतिक धरोहरें हैं, पर मानव निर्मित समुद्री किले और लाइट हाउस उनमें खास हैं।

किले- शक्ति और शौर्य के प्रतीक

आज के मिसाइल युग में किलों का महत्व हमें नजर नहीं आता पर देश के विभिन्न भागों में आज भी बुलंदी के साथ खड़े सैकड़ों किले हमारी सभ्यता, संस्कृति औऱ विरासत के प्रहरी हैं। उनको देख कर हम अतीत में जाने पर विवश हो जाते हैं। अलग-अलग किले जटिल भूभाग पर विभिन्न कालखंडों में बने और वे अभेद्य सुरक्षा कवच का इन्होंने काम किया। विभिन्न क्षेत्रों की ये पहचान और आन-बान और शान बने रहे। अलग-अलग अंचलों में स्थापित किलों की अपनी खूबियां हैं। कई किलों की रहस्यमयी कथाएं भी लोकजीवन में प्रचलित हैं। राजस्थान, दिल्ली और कुछ अन्य क्षेत्रों के विशाल किलों की तुलना में पूर्वोत्तर और पहाड़ी अंचलों के किले छोटे पर शिल्प और व्यूह रचना में बेजोड़ हैं। लेकिन हमारे किलों की धरोहरों में छत्रपति शिवाजी महराज के शासनकाल में बने, विस्तारित या पुनर्निमित किलों का इतिहास में अलग महत्व है। महाराष्ट्र में कई श्रेणी के किले उस कालखंड में बने जिन्होंने मराठा शक्ति के विस्तार में ऐतिहासिक भूमिका निभाने के साथ सैन्य संरचना में कई कई अभिनव प्रयोगों को भी जन्म दिया।

मराठा समुद्री किलों का गौरवशाली वैभव

महान रचनाकार काका कालेलकर ने महाराष्ट्र को संतों और सैनिकों की भूमि कहा है। स्वराज्य की भावना से छत्रपति शिवाजी महराज ने मराठा साम्राज्य की नींव डाली। मराठा एक साथ ही संत और सैनिक दोनों हो सकते हैं। उनके त्याग और बलिदान की कोई सीमा नहीं थी। "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है", इस मंत्र के दाता लोकमान्य तिलक का जन्म इसी प्रदेश में हुए।

महाराष्ट्र में विभिन्न श्रेणी के 390 से अधिक किले हैं। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के अधीन महाराष्ट्र में राष्ट्रीय महत्व के 286 स्मारकों और स्थलों में 16 ऐसे किले हैं जो शिवाजी महराज से संबंधित हैं। इनमें से एक दर्जन किलों को भारत के मराठा सैन्य परिदृश्य के तहत विश्व धरोहर के रूप में चुना गया है। इनमें शिवनेरी किला, लोहगढ़, रायगढ़, सुवर्णदुर्ग, पन्हाला किला, विजयदुर्ग, सिंधुदुर्ग भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा संरक्षित हैं। वहीं सलहेर किला, राजगढ़, खंडेरी किला और प्रतापगढ़ महाराष्ट्र सरकार के पुरातत्व और संग्रहालय निदेशालय के तहत संरक्षित हैं। श्रेणीवार देखें तो इन किलों में साल्हेर, शिवनेरी, लोहगढ़, रायगढ़, राजगढ़ पहाड़ी किले हैं, जबकि

प्रतापगढ़ पहाड़ी जंगली किला, पन्हाला पठारी किला है और विजयदुर्ग, खान्देरी, सुवर्णदुर्ग और सिंधुदुर्ग समुद्री और द्वीपीय किला है।

छत्रपति शिवाजी महराज के दौर के किले वास्तुकला में अनूठे हैं साथ ही उनका स्थानीय समुदाय के साथ गहरा भावनात्मक लगाव रहा है। वे क्षेत्रीय गौरव और मराठा स्वाभिमान के प्रतीक होने के साथ राष्ट्रीय धरोहर हैं। खास तौर पर शिवाजी महराज के जीवन से जुड़े किलों के प्रति जनमानस में असीम श्रद्धा है और उन किलों में सालाना आयोजनों में विशाल जनसमुदाय एकत्र होता है।

छत्रपति शिवाजी महाराज ने अपने शासनकाल में गिरिदुर्ग, जलदुर्ग और स्थल दुर्ग का अनूठा साम्राज्य खड़ा किया। शिवाजी महराज ने करीब ढाई दशक तक जिस राजगढ़ किले से स्वराज्य का शासन चलाया, उसे लोकमान्य तिलक ने ही आस्था का केंद्र बना दिया था। रायगढ़ के रणनीतिक महत्व और भौगोलिक स्थिति के आलोक में शिवाजी महराज ने आसपास के किलों को सारे जरूरी साजो सामान से लैस किया।

विश्व धरोहर में शामिल हुए मराठा साम्राज्य के चुनिंदा किले

जुलाई 2025 में यूनेस्को की 47वीं विश्व विरासत समिति की बैठक में भारत की 44वीं प्रविष्टि के रूप में 12 ऐसे किलों को शामिल कर लिया गया है जो मराठा साम्राज्य के कालखंड में बने, विकसित या विस्तारित हुए। इनमें 11 किले महाराष्ट्र और एक तमिलनाडु में हैं, पर इन सबका संबध मराठा साम्राज्य से रहा है। इन किलों में समुद्री किलों की श्रेणी में खंडेरी किला, सुवर्णदीप और सिंधुदुर्ग आईलैण्ड फोर्ट है जबकि विजयदुर्ग कोस्टल फोर्ट की श्रेणी में आता है। खंडेरी किला 1679 में शिवाजी महाराज ने एक छोटे समुद्री द्वीप पर बनवाया, जबकि सुवर्णदुर्ग बीजापुर के आदिलशाही राजवंश से विजित था, जिसे रत्नागिरी तट का सबसे आकर्षक किला माना जाता ह। यह किला भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के अधीन होने के कारण बेहतर स्थिति में है।

सिंधुदुर्ग का निर्माण 1664 से 1667 के दौरान कुशल मराठा इंजीनियर हिरोजी इंदुलकर की देखरेख में तीन वर्षों में बना। कई अन्य विशेषज्ञो से भी मदद मिली। इस ऐतिहासिक किले के भीतर शिवराजेश्वर मंदिर है, जिसमें छत्रपति शिवाजी महाराज के हथेली और पाँव की छाप पत्थर पर सुरक्षित है। अरब सागर में शान से खड़ा यह किला अपनी गौरवगाथा का आज भी बयान कर रहा है। चारों तरफ समुद्र से घिरा 48 एकड़ में फैला यह किला भारतीय नौसेना के लिए भी यादगार धरोहर है। यहीं पर 4 दिसंबर, 2023 को नौसेना दिवस मनाया गया, जिसमें प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी खास मेहमान थे। किले में रक्षा मंत्री, सीडीएस, नौसेना प्रमुख और महाराष्ट्र के बहुत से दिग्गज नौसेना दिवस पर पधारे थे।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने इस किले के वैभव की याद करते हुए कहा था कि छत्रपति **वीर शिवाजी महाराज का उदघोष था- जलमेव यस्य, बलमेव तस्य।** यानि "जो समुद्र पर नियंत्रण रखता है वह सर्वशक्तिमान है।" उन्होंने शक्तिशाली नौसेना बनाई। कान्होजी आंग्रे, मायाजी नाईक भाटकर और, हीरोजी इंदालकर जैसे योद्धाओं ने इसे नया रूप दिया।...भारत का इतिहास, हमारे सामुद्री सामर्थ्य का इतिहास है। सैकड़ों वर्ष पहले जब टेक्नोलॉजी और संसाधन नहीं थे, तब समंदर को चीरकर हमने सिंधुदुर्ग जैसे कितने ही किले बनवाए।

छत्रपति शिवाजी महराज की मान्यता थी कि जिसके हाथ मे समुद्री मार्ग उसके हाथ में तट। इसी सोच से सिंधुदुर्ग बना था जिसने से कोंकण तट डच, पुर्तगाली, अंग्रेजों और जंजीरा के आक्रमणों से सुरक्षित किया और एक वैकल्पिक व्यापार मार्ग भी खुला। छत्रपति शिवाजी महराज ने महाराष्ट्र के पश्चिमी तट पर कई नए किलों का निर्माण कराने के साथ

विजयदुर्ग और सुवर्णदुर्ग जैसे कई किलों का पुनर्निर्माण कराया। 17वीं से 19वीं शताब्दी के बीच विकसित मराठा सैन्य परिदृश्य किलों और रक्षा प्रणालियों का अनूठा उदाहरण है। इसका मजबूत आधार छत्रपति शिवाजी महाराज ने रखा था पर इसका प्रभाव लंबा रहा। विश्व धरोहर में शामिल किलों में तमिलनाडु का जिंजी किला भी है जो 1690 ई. में मुगलों से बचने के लिए बना था। यह तीन पर्वत चोटियों– राजगिरी, कृष्णगिरी एवं चंद्रायणदुर्ग पर फैला है और इसे 'दक्षिण का जिब्राल्टर कहा जाता है।

छत्रपति शिवाजी महराज के जीवन में किलों का स्थान

छत्रपति शिवाजी महराज को दुर्ग पुत्र और शिवनेरी का लाल भी कहा जाता है। उनके जीवन का अधिकांश भाग किलों में ही बीता। वे किले में ही पैदा हुए और आखिरी सांस भी किले में ही ली थी। वे इतिहास के सबसे बड़े गढ़ नायक कहे जाते हैं। स्वराज्य की भावना से उन्होंने मराठा साम्राज्य की नींव डाली और जीवन भर स्वाधीनता के लिए संघर्षरत रहे। उसके बाद पेशवाओं के शासन में भी उनका आधार काम आया और मराठों ने दूर-दूर तक अपनी सत्ता स्थापित की।

भारतीय नौसेना का जनक छत्रपति शिवाजी महराज को कहा जाता है। इसीलिए 2022 में शिवाजी महराज की अष्ठकोणीय मुद्रा के प्रतीक चिन्ह को भारतीय नौसेना के ध्वज में प्रतिष्ठा मिली। छत्रपति शिवाजी महराज के जीवन के बारे में देश-विदेश के लोग अच्छी तरह जानते हैं। 1645 में किशोर उम्र में ही इन्होंने बीजापुर के अधीन तोरण किले पर सफलतापूर्वक नियंत्रण हासिल कर लिया था। पर उनका सबसे योगदान बेहद ताकतवर नौसेना का निर्माण था। शिवाजी महराज ने जहाज निर्माण के सबसे आधुनिक तरीकों का उपयोग कर उस दौर में सर्वश्रेष्ठ बेड़ा खड़ा किया।

इतिहासविद् यदुनाथ सरकार ने कहा है कि शिवाजी महराज ने नौसेना निर्माण और नौसैनिक अड्डों की स्थापना के लिए जितना श्रम किया उतना किसी औऱ क्षेत्र में नही किया। उनकी नौसेना में छोटे बड़े 550 नौकाएं और युद्धपोत शामिल थे। सूरत से कोंकण तट की पूरी पट्टी पर शिवाजी महराज ने ऐसे कई किले बनवाए जिससे पूरे समुद्री तट पर निगरानी रखी जा सके। नौसैनिकों का प्रशिक्षण देने के साथ उसमें स्थानीय निवासियों कोली और भंडारी को शामिल किया जो समुद्र के गहरे जानकार थे। मराठों की नौसेना से कई शक्तियां कांपती थी।

अजेय समुद्री किले

वैसे तो समुद्र तट पर कई हिस्सों में समुद्री किले हैं पर सिंधुदुर्ग किला, मुरुद-जंजीरा और दीव के किले के साथ कुछ ऐसे किले हैं जो ऐतिहासिक महत्व के हैं। दीव का किला गुजरात के दीव द्वीप पर है जिसे पुर्तगालियों ने बनवाया था, पर मराठों ने अधिकतर किले महत्वपूर्ण बंदरगाहों के पास बनवाए। इस अंचल में मुरुद-जंजीरा किला भारत के सबसे मज़बूत और अजेय किलों में है जिसे सिद्दियों ने बनवाया था। इसने मराठों, डचों और पुर्तगालियों की कई घेराबंदियों को विफल किया। गोवा का अगुआड़ा किला भी बेहतर संरक्षित पुर्तगाली किलों में है जिसे 1612 में बनाया गया था। किले के परिसर में एशिया के सबसे पुराने लाइट हाउसों में एक स्थित है। सदियों से समुद्री लहरों औऱ तेज हवाओं के साथ प्राकृतिक बदलावों और बहुत से कारणों ने इनका रंग भले बदला हो पर ये हमारे पुरखों का कौशल दिखाते हैं। उस कालखंड में जबकि मशीनें नहीं और जलयान आज जैसे नहीं थे, इनको बनाना कितना कठिन रहा होगा, इसकी परिकल्पना की जा सकती है।

पर्यटन विकास को नई दिशा

मराठी सैन्य परिदृश्य का हिस्सा समुद्री किलों के प्रति पर्यटकों का आकर्षण भी बढ रहा है। मुंबई से सिंधुदुर्ग तक समुद्री पर्यटन के कई साधन उपबल्ध

हैं। महाराष्ट्र में 35 खाड़ियां और 720 किमी लंबी तटरेखा सालाना करीब डेढ करोड़ पर्यटकों को जल परिवहन से भी जोड़ती है। जल क्रीड़ा, हाउस बोट, सुदर तट, खाड़ियां, समुद्र में खड़े जंजीरा और सिंधुदुर्ग जैसे जल दुर्ग पर्यटकों को पहले से ही आकर्षित करते रहे हैं। महाराष्ट्र सरकार ने सिंधुदुर्ग के तटीय क्षेत्र में विजय दुर्ग, देवगढ़, मालवां, वेंगुर्ला, अमेबोली, यशवंत गढ, निवती किला, निवती बीच, रेखोल क्रीक सहित विभिन्न पर्यटक स्थलों का विकास भी किया है।

2016 में 'निर्मल सागर सुंदरम' नारे के साथ निर्मल सागर तट अभियान भी चला जिसने सागर तट के ग्रामों को नया जीवन दिया। हाल के वर्षों में समुद्री पर्यटन की असीम संभावनाएं विकसित हुई हैं। पत्तन, पोत परिवहन एवं जलमार्ग मंत्रालय भारत के समुद्र तट पर अलग-थलग पड़े लाइटहाउसों की सुंदरता एवं ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए उनको जीवंत पर्यटन स्थल के रूप में पुनर्जीवित कर रहा है। 28 फरवरी,2024 को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी द्वारा देश भर में 75 लाइटहाउसों में पर्यटन सुविधाओं का उद्घाटन किया गया था।

इस पहल का उद्देश्य मौजूदा लाइटहाउस सुविधाओं को विरासत एवं समुद्री संग्रहालयों के विकास के साथ-साथ वैकल्पिक उपयोगों के लिए पुनर्जीवित करना है। 2022-23 में लाइटहाउसों पर पर्यटकों की संख्या बढ़कर 10.24 लाख हो गई, जो साल 2013-14 में केवल 4.34 लाख थी। भारत में क्रूज परिवहन बढ़ रहा है। 2023-24 में 4.7 लाख यात्री थे जिनकी संख्या 2024-25 में 4.92 लाख हो गयी। मुंबई, गोवा, कोच्चि, चेन्नई, नव मंगलूर और विशाखापट्टनम आदि से क्रूज संचालन। क्रूज पोत परिवहन नीति 2008 में बनी। लक्ष्य 2010 तक संख्या 10 लाख करना था। अभी लक्ष्य का आधा भी हासिल नहीं हो सका है। अब 2029 तक 10 लाख लक्ष्य रखा गया।

भारत का समुद्री इतिहास

भारत का समुद्री इतिहास बहुत प्राचीन है। भारत कमसे कम चार सहस्त्राब्दियों तक समुद्री व्यापार और वाणिज्य की धुरी रहा है। मान्यता है कि दुनिया की पहली ज्वारीय गोदी हड़प्पा सभ्यता के दौरान गुजरात तट पर लोथल में करीब 2400 ईसा पूर्व में निर्मित हुई। इसे विश्व का पहला समुद्री क्षेत्र से संबंधित उन्नत ज्ञान की धरोहर माना जाता है। प्राचीन भारत में विदेशी व्यापार स्थल और जलमागों से होता था। वैदिक काल, रामायण और महाभारत में पोत निर्माण तथा समुद्री यात्राओं के विवरण मिलते है। सातवाहन और चोल राजाओं का कई देशों के साथ समुद्री व्यापार था। चोल शासन में नए बंदरगाहों की स्थापना ही नहीं हुई बल्कि व्यापारिक पोतों की सुरक्षा के लिए शक्तिशाली नौसेना भी गठित हुई। पोतों की मरम्मत के लिए आधारभूत ढांचा गोदी और लाइट हाउस भी बने। पर वास्को-डी-गामा (1460-1524) के भारत आगमन के बाद से तस्वीर में बदलाव आना आरंभ हुआ।

मई, 1498 में वह एक गुजराती कारोबारी की मदद से भारत पहुंचा था। कालांतर में पुर्तगालियों ने पूर्वी व्यापार को अरबों से छीन लिया। उनकी देखादेखी डचों, अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने भी व्यापार आरंभ किया। बाद में इनमें लंबा संघर्ष देखने को मिला। गोवा, दीव, दमन, और कुछ तटीय क्षेत्रों में पुर्तगालियों ने मजबूत किले बनवाए। कालिकट, कोचीन, गोवा, सूरत और पश्चिमी तट पर स्थित अन्य पत्तनों के समीप कारखानें भी स्थापित किए तथा कई महत्वपूर्ण बंदरगाहों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। मुगलों के पास नदियों में जलीय युद्ध का तंत्र तो था पर समुद्री मामलों में वे कुछ खास कर नहीं सके। इस दिशा में छत्रपति शिवाजी महराज ने ही सोचा। पुर्तगालियों की नौसैन्य शक्ति के आलोक में उन्होंने अपनी जो नौसेना खड़ी की उसने समुद्री इतिहास को एक नई दिशा दी। जलों के अधिराज

कहे जाने वाले पुर्तगालियों को मराठों की शक्ति के आगे शांति समझौता करने को मजबूर होना पड़ा।

धरोहरों का संरक्षण और जन भागीदारी

धरोहरों के मामले में भारत दुनिया के सबसे संपन्न देशों में है। अलग अलग कालखण्डों की एक से बढ़कर एक करीब 10 हजार से अधिक धरोहरें हमें हमारे पुरखों ने दी है। श्रेष्ठतम धरोहरों का संरक्षण भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण और प्रांतीय सरकारें करती हैं। प्राचीन संस्मारक और पुरातत्विक स्थल और अवशेष अधिनियम 1958 के तहत केंद्र संरक्षित स्मारक घोषित होते हैं। कई धरोहरों की देख रेख स्थानीय निकाय करते हैं।

विश्व धरोहरों का बेहतर संरक्षण होता है पर तमाम धरोहरें उपेक्षित हैं जिनको बेहतर बनाने में स्थानीय समुदाय मददगार हो सकता है। सरकारी स्तर पर धरोहरों के संरक्षण का प्रयास अपनी जगह हो रहा है पर जनभागीदारी को जनांदोलन बनाने की जरूरत है। सभी धरोहरें हमारी साझी विरासत हैं, जिनकी जिम्मेदारी सरकार के साथ समाज की भी बनती है। ये धरोहरें हमें अपने गौरवशाली अतीत से साक्षात्कार कराती हैं। ताकत देती हैं और बताती हैं कि कठिन दौर में भी हमारे पुरखों में कितने श्रम से इनको खड़ा किया रहा होगा। ये हमारी पहचान हैं। इस नाते इनको बचाना, साफ सुथरा रखना हमारा दायित्व है। चाहे समुद्री किले हों या फिर कोई और धरोहर वहां हमें इसी भाव से जाना चाहिए कि वह केवल किले नहीं हमारे श्रद्धा के केंद्र भी हैं। अतुल गुरु की ये चंद पंक्तियां हमें बहुत कुछ कहती हैं-

मैं हूं दुर्ग, मैं हूं विरासत की पहचान
आप मुझे परखोगे, तो ही बनूंगा आपकी शान।
गढ और कोट की कहानी, है बहुत पुरानी
वेद ग्रंथों में पाओगे मेरी संस्कृति पुरानी
आज छत्रपति शिवाजी हैं मेरी जान
आओगे रायगढ तो देखोगे मेरी शान।

संदर्भ सामग्री

- राष्ट्रीयता और समाजवाद, आचाय नरेंद्र देव, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली 2002
- India ruled the waves, Dr M Ganju, , The Mddern Review, CALCUTTA, May 1944
- निर्मल सागर तट अभियान, महाराष्ट्र मेरीटाइम बोर्ड, मुंबई 2016
- स्वच्छ सागर, सुरक्षित सागर, योजना, सितंबर 2022
- सिंधुदुर्ग तटीय परिपथ, लोक सभा में लिखित प्रश्न संख्या 2243 पर पर्यटन राज्यमंत्री स्वतंत्र प्रभार का जवाब, दिनांक 3 अगस्त 2015, लोक सभा सचिवालय
- महाराष्ट्र के कोंकण तट पर तटीय दुर्गों का क्रमिक नामांकन- https://whc.unesco.org/en/tentativelists/6703/
- भारतीय नौसेना और कोली समाज, डॉ शिवम तिवारी, आदिज्ञान, जून 2024
- विदेशी यात्रियों की नजर में भारत, डा. परमानंद पांचाल, प्रकाशन विभाग, सूचना-प्रसारण मंत्रालय,1992।
- सार्थवाह, डाक्टर मोतीचंद्र ,बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्,पटना 1966।
- भारतीय जहाजरानी: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, बलदेव सहाय, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1997।
- मैरिटाइम हिस्ट्री ऑफ इंडिया, रीअर एडमिरल के. श्रीधरन, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार- 1982।
- देश की बात, सखाराम गणेश देउस्कर,अनुवाद-बाबूराव विष्णु पराडक़र, 1908, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया 2005।
- मालाबार एंड पुर्तगीज, के.एम. पाणिक्कर, किताब महल, बंबई।
- परिवहन पयटन औऱ संस्कृति संबंधी संसदीय स्थायी समिति, राज्य सभा, 25 मार्च 2025
- मैं हूं दुर्ग, अतुल गुरु गृह पत्रिका, मध्य रेल नागपुर मंडल, 2022
- हौले-हौले जमींदोज होता अतीत, संदीप उन्नथन, इंडिया टुडे, 25 अप्रैल 2001
- महाराष्ट्र के गौरवशाली किले, अमित निधि, दैनिक जागरण, 26 जुलाई 2015
- वीओ चिदम्बरम पिल्लै, आरए पद्मनाभन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2004
- भारत के दुर्ग, दीनानाथ दुबे, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1993
- महाराष्ट्र का इतिहास और भूगोल, मझिमा सोनटके, यूनियन सृजन, अक्तूबर दिसंबर 2020

*****

योग और आयुर्वेद: भारत का विश्व को उपहार

बिजय जे आनंद
फिल्म अभिनेता और योग गुरु

भारतीय योग परंपरा: एक वैश्विक जागृति

आज सम्पूर्ण विश्व में भारतीय योग परंपरा से परिचित है। पश्चिम ने भी को अपने जीवन का अंग बना लिया है। भारत में योग के अधिष्ठान करने वाले योग महर्षि पतंजलि को कोटिश नमन और वंदन जिनका जन्म भारत भूमि में हुआ। महर्षि पतंजलती को योग सूत्र, अष्टाध्यायी पर भाष्य और एक चिकित्सा ग्रंथ के लिए जाना जाता है। उन्हें 'योग का जनक' भी कहा जाता है और उन्होंने अष्टांग योग मार्ग का प्रतिपादन किया था, जो योग अभ्यास की एक व्यवस्थित पद्धति है। पतंजलि के अनुसार योग की परिभाषा "चित्तवृत्त्यनिरोधः" है, जिसका अर्थ है मन की सभी वृत्तियों (विचारों, भावनाओं, स्मृतियों आदि) को रोकना या नियंत्रित करना। इस अवस्था में व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जान पाता है और स्वयं को एक शांत, स्थिर मानसिक अवस्था में स्थापित कर लेता है, जो समाधि की ओर ले जाती है। महर्षि पतंजलि ने योग को 'चित्त की वृत्तियों के निरोध' के रूप में परिभाषित किया है। योगसूत्र में उन्होंने पूर्ण कल्याण तथा शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शुद्धि के लिए आठ अंगों वाले योग का एक मार्ग विस्तार से बताया है। अष्टांग अर्थात आठ अंगों वाले, योग को आठ अलग-अलग चरणों वाला मार्ग नहीं समझना चाहिए; यह आठ आयामों वाला मार्ग है जिसमें आठों आयामों का अभ्यास एक साथ किया जाता है। योग के ये आठ अंग निम्न हैं:

1. यम

(क) अहिंसा अर्थात वाणी से, विचारों से और कर्मों से किसी भी जीव जगत को हानि नहीं पहुँचाना

(ख) सत्य अर्थात मन, वचन और कर्म से सत्यता का पालन करना

(ग) अस्तेय अर्थात चौर्य प्रवृत्ति से निवृत्ति

(घ) ब्रह्मचर्य अर्थात चेतना को ब्रह्म के ज्ञान में स्थिर करना अर्थात ब्रह्म की चर्या में रहना
(ड.) अपरिग्रह अर्थात आवश्यकता से अधिक का संचय नहीं करना और दूसरों की वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करना

2. नियम

(क) शौच - शरीर और मन की शुचिता

(ख) संतोष -जो कुछ जीवन में प्राप्त हैं उसमें संतुष्ट रहना और जो प्राप्त करने योग्य है उसके लिए पुरुषार्थ करना

(ग) तप – द्वन्दों को सहन करना, स्व अनुशासन में रहना, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि में समभाव

अष्टांग अर्थात आठ अंगों वाले, योग को आठ अलग-अलग चरणों वाला मार्ग नहीं समझना चाहिए; यह आठ आयामों वाला मार्ग है जिसमें आठों आयामों का अभ्यास एक साथ किया जाता है।

(घ) स्वाध्याय – सद ग्रन्थों का अध्ययन, आप्त पुरुषों और गुरुओं द्वारा रचित ग्रंथों का स्वाध्याय, आत्मचिंतन और आत्म निरीक्षण

(ड.) ईश्वर-प्रणिधान – मन, वचन से समस्त शुभ और अशुभ कर्मों को ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित करना

3. आसन: अष्टांग अंग का तीसरा अंग है आसन। महर्षि पतंजलि योगदर्शन में आसन के विषय में बताते हुए कहते हैं कि शरीर की जिस स्थिति में रहते हुए सुख का अनुभव होता हो और उस शारीरिक स्थिति में स्थिरता पूर्वक अधिक देर तक सुखपूर्वक रहा जा सकता हो उस स्थिति विशेष को आसन कहते हैं।

क. आसन करने से शरीर में लचीलापन आता है और सक्रियता बढ़ने से सृजनात्मकता बढ़ती है

ख. आसन करने से एकाग्रता बढ़ती है और व्यक्ति में बोध का स्तर ऊँचा होता है

ग. आसन करने से व्यक्ति की जीवन शैली में नियमितता आती है और स्वास्थ्य बेहतर होता है

घ. आसन करने से व्यक्ति में मन में अष्टांग योग के अनुष्ठान में प्रीति बढ़ती है

ड. आसन करने से शरीर से विजातीय तत्व बाहर निकलते है

4. प्राणायाम: प्राणायाम का अर्थ है प्राणों का विस्तार। जब हम श्वास लेते हैं तो मुख्य रूप से तीन क्रियाएं करते हैं- पूरक, कुम्भक, रेचक

ध्यान की उच्च अवस्था है। जब साधक ध्येय वस्तु (जिसका वह ध्यान कर रहा है) के ध्यान में पूरी तरह से डूब जाता है और उसे अपने अस्तित्व का भी ज्ञान नहीं रहता है तो उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

5. प्रत्याहार: प्रत्याहार अष्टांग योग का पांचवां अंग है। योग में प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ है इन्द्रियों को उनके आहार विषयों से विमुख कर देना।

6. धारणा: चित्त को किसी एक विचार में बांध लेने की क्रिया को धारणा कहा जाता है। पतंजलि के अष्टांग योग का यह छठा अंग है। इससे पूर्व के पांच अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार कहे गए हैं जो योग में बाहरी साधन माने गए हैं । प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के भीतरी अंग या साधन कहे गये हैं | धारणा शब्द 'धृ' धातु से बना है। इसका अर्थ होता है धारण करना, संभालना, थामना या सहारा देना ।

योग दर्शन के अनुसार- "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" (योगसूत्र 3/1) अर्थात्- किसी स्थान (मन के भीतर या बाहर) विशेष पर चित्त को स्थिर करने का नाम धारणा है, अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार द्वारा इंद्रियों को उनके विषयों (रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श) से हटाकर चित्त में स्थिर किया जाता है, स्थिर एवं एकाग्र किये गए चित्त को एक 'स्थान विशेष ' पर रोक लेना ही धारणा है।

7. ध्यान: ध्यान चेतन मन की एक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपनी चेतना बाह्य जगत् के किसी चुने हुए दायरे अथवा स्थल एवं स्थान विशेष पर केंद्रित करता है। योगसम्मत ध्यान से इस सामान्य ध्यान में बड़ा अंतर है। पहला दीर्घकालिक अभ्यास की शक्ति के उपयोग द्वारा आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर प्रेरित होता है, जबकि दूसरे का लक्ष्य भौतिक होता है और साधारण दैनंदिनी शक्ति ही काम आती है। संपूर्णानंद आदि कुछ भारतीय विद्वान् योगसम्मत ध्यान को सामान्य ध्यान की ही एक चरम विकसित अवस्था मानते हैं। किसी भी मनुष्य का सभी बाहरी कार्यों से विरक्त होकर किसी एक कार्य में लीन हो जाना ही ध्यान है।

8. समाधि ध्यान की उच्च अवस्था है। जब साधक ध्येय वस्तु (जिसका वह ध्यान कर रहा है) के ध्यान में पूरी तरह से डूब जाता है और उसे अपने अस्तित्व का भी ज्ञान नहीं रहता है तो उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

संकटग्रस्त दुनिया के लिए सांस्कृतिक चिकित्सा

रूस, चीन, यूरोप और मिडिल ईस्ट जैसे देशों में सिखाने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले एक कुंडलिनी योग शिक्षक के रूप में, मैं स्वयं को अत्यंत भाग्यशाली मानता हूँ कि मैंने योग और आयुर्वेद जैसी 5000 वर्षों पुरानी प्राचीन भारतीय विद्याओं के प्रति वैश्विक जागरूकता में जबरदस्त परिवर्तन होते देखा है।

आज वेलनेस इंडस्ट्री की वैश्विक कीमत 4 ट्रिलियन डॉलर से भी अधिक है, और यह अविश्वसनीय गति से बढ़ रही है। इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है-दुनियाभर के लोग अब यह समझने लगे हैं कि सफलता, समृद्धि और धन की अंधी दौड़ अक्सर तनाव, चिंता और अवसाद लेकर आती है, जबकि भीतर की यात्रा आनंद, शांति, स्थिरता, खुशी और सच्चे सुख की ओर ले जाती है। मैं जिन 84 देशों की यात्रा कर चुका हूँ, उनमें से एक भी ऐसा नहीं है जहाँ योग स्टूडियो न हों—हर शहर समर्पित साधकों से भरा हुआ है।

हमारे माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने स्वयं एक प्रबल योग साधक बनकर यह सिद्ध कर दिया है कि नियमित अभ्यास से जीवन में ऊर्जा, मानसिक स्पष्टता और शारीरिक स्वास्थ्य को कैसे पाया जा सकता है। उनके द्वारा 21 जून को अंतरराष्ट्रीय योग दिवस घोषित करना एक ऐतिहासिक पहल रही है, जिसने योग को स्वास्थ्य, समरसता और समग्र कल्याण की वैश्विक भाषा बना दिया है। आज "डिटॉक्स", "दोष", "चक्र संतुलन", "माइंडफुलनेस", "पंचकर्म" और "प्राणायाम" जैसे शब्द दुनिया भर की जीवनशैली और स्वास्थ्य संबंधी चर्चाओं का हिस्सा बन चुके हैं।

आयुर्वेद ने भी पश्चिमी दुनिया में गहरा प्रभाव डाला है—चाहे वह आहार संबंधी आदतें हों, हर्बल दवाएँ हों या मानसिक स्वास्थ्य की देखभाल। जर्मनी जैसे देशों में अब एलोपैथी से हटकर आयुर्वेद, ध्वनि चिकित्सा और नेचर क्योर जैसी प्राकृतिक चिकित्सा पद्धतियों की ओर रुझान देखने को मिल रहा है। मडोना, ग्विनिथ पैल्ट्रो, स्टिंग जैसे वैश्विक आइकॉन ने भी योग और आयुर्वेद को अपनाकर इसे और अधिक प्रसिद्धि प्रदान की है। नेटफ्लिक्स शोज़ और अनेक डॉक्यूमेंट्रीज़ आज नियमित रूप से इन भारतीय परंपराओं से जुड़ी वेलनेस यात्राओं को दिखा रही हैं। आज योग केवल स्टूडियो तक सीमित नहीं रहा है इसे विश्वविद्यालयों में अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है, अस्पतालों में अपनाया जा रहा है और कॉर्पोरेट बोर्डरूम्स में भी इसे अपनाया जा रहा है।

हर भारतीय के लिए यह गर्व की बात है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन ने आयुर्वेद को पारंपरिक चिकित्सा प्रणाली के रूप में मान्यता दी है। अंतरराष्ट्रीय योग दिवस आज 180 से अधिक देशों में मनाया जा रहा है, और योग व आयुर्वेद दोनों ही अब भारत की सांस्कृतिक कूटनीति के सशक्त माध्यम बन चुके हैं। भारतीय दूतावास, सांस्कृतिक केंद्र और पर्यटन बोर्ड इन्हें "ब्रांड इंडिया" के स्तंभ के रूप में दुनिया भर में बढ़ावा दे रहे हैं।

अपनी प्राग यात्रा के दौरान मुझे लगभग 40,000 साधकों को योग सिखाने का अवसर मिलेगा, मेरा यह विश्वास और गहरा हो गया है कि इस धरती को युद्ध, हिंसा और अराजकता से निकालकर प्रेम, शांति और सौहार्द की दिशा में मोड़ने का एकमात्र उपाय इस पवित्र भारतीय ज्ञान को साझा करना है। जब किसी भी व्यक्ति को अपना बोध होना आरंभ होने लगता है तब स्वत: ही उसमें परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। वह स्वयं एक प्रकाशपुंज बन जाता है और जब एक बार यह आंतरिक प्रकाश जल उठता है, तो वह अपने आप दूसरों को आलोकित करने का उत्तरदायित्व महसूस करता है।

*****

अभिनव भरत पण्डित सीताराम चतुर्वेदी और अभिनव नाट्यशास्त्रः विहंगावलोकन

डॉ. तेजस्वरूप त्रिवेदी
सहायक निदेशक
संगीत नाटक अकादेमी

''काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यन करते समय मैंने केवल अभिनय-कौशल ही नहीं सीखा वरन् संसार भरके श्रेष्ठ नाटककारों के सब नाटक छान डाले, संगीत (गीत वाद्य और नृत्य) का सुव्यस्थित अभ्यास किया और अभिनयकला, रंगप्रदीपन रंग-व्यवस्था आदि सभी नाट्यसंगत विषयों पर प्राप्त ग्रन्थों का सूक्ष्म अनुशीलन कर डाला। हिन्दी में एम.ए. करने के पश्चात मैंने विचार किया कि इसी विषय पर प्रबन्ध लिखकर महाचार्य (डाक्टर) बन जाऊँ। मैंने इसके लिये डाक्टर श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आशीर्वाद और निर्देश प्राप्त करके आवेदन-पत्र भी भेज दिया, किन्तु डा. श्यामसुन्दर दास ने वृद्ध वयस्कता के कारण अवकाश प्राप्त कर लिया, आचार्य शुक्ल जी भी चल बसे और मैं भी हिन्दू स्कूल से टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में प्राध्यापक बनकर चला गया। इन सब घटनाओं ने तथा ग्रन्थ के विस्तार ने मुझे यही प्रेरणा दी कि अब डाक्टरी की उपाधि का मोह छोड़कर इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण बनाकर अलग प्रकाशित किया जाए क्योंकि चारों ओर दृष्टि डालने पर भी कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ा जो इस शास्त्र का परीक्षक बन सकता। मेरे आत्मसम्मान ने मुझे यही उपदेश दिया कि अनधिकारियों के हाथों से सम्मान पाने की अपेक्षा स्वयं सम्मान अर्जित करना कहीं अच्छा है। इस गर्व से समृद्ध स्वाभिमान की रक्षा करने के लिए मैंने अपनी शक्ति ग्रन्थ-निर्माण में केन्द्रित कर दी।"यह उद्गार है भरतमुनि की परम्परा के संवाहक अभिनवभरत पंडित सीताराम चतुर्वेदी के जिन्होंने अभिनवभरत नाम स्वीकार करके अभिनव नाट्य शास्त्र लिखा जिसमें ज्ञान, शिल्पविद्या, कला, योग और कर्म का विस्तृत विवरण है।

27 जनवरी सन् 1907 ई. को काशी के छोटी पियरीनामक मुहल्ले में जन्मे आचार्यजी के पिता पण्डित भीमसेन वेदपाठी जी हिन्दू धर्म की विभिन्न पूजा पद्धतियों के ज्ञाता, अनुपम विद्वान और काशी विश्वविद्यालय के प्राच्य भाषा विभाग में वेद और पौरोहित्य की शिक्षा प्रदान करते थे। गुरुवर चतुर्वेदी जी की माता श्रीमती द्राक्षी देवी परम विदुषी और दानी प्रकृति की महिला थीं।

अपनी आत्मकथा में गुरुवर चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि हाई स्कूल परीक्षा पास करके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पहुँचकर महामना मालवीय जी के निकटतम संपर्क में आकर उनके सनातन धर्मपत्र का सम्पादक बना। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन करने की इतनी सुविधा थी कि मैं प्रात:काल यहाँ संस्कृत विद्यालय में पढ़ता था, दिन में सैंट्रल हिन्दू कॉलेज में, सांयकाल संगीत-विद्यालय में। पढ़ने की और विद्यार्जन की प्रवृत्ति कुछ स्वाभाविक थी, कुछ हिन्दू विश्वविद्यालय में बढ़ गई। मैंने भारत और भारत से बाहर की लगभग 22 भाषाएँ सीखीं, चार विषयों में एम.ए., एल-एल. बी., बी.टी., साहित्याचार्य आदि परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि मालवीयजी महाराज के सम्पर्क के कारण मैं अपने भारत देश का कोना-कोना झाँक आया। देश के बड़े-बड़े महापुरुषों महात्मा गाँधी, श्रीमती ऐनी बेसेन्ट, डॉ. भगवानदास, लाला लाजपतराय, डॉ.आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव, डॉ. श्यामाचारण डे, प्रोफेसर शेषाद्रि,

प्रोफेसर अधिकारी, प्रिंसिपल किंग, प्रिंसिपल मलकानी से मेरा सम्पर्क हो गया। किन्तु मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया महामना मालवीयजी के पवित्र व्यक्तित्व ने, आचार्य ध्रुव की गम्भीर विद्यावैभवपूर्ण सरलता ने, लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय की प्रचंड तेजस्विता ने और श्री श्यामाचरण डे की त्यागपूर्ण निष्ठा ने।

गुरुवर चतुर्वेदी जी ने एक जर्मन विद्वान को संस्कृत भाषा सिखाकर उससे जर्मन भाषा सीखी, सारनाथ के एक चीनी विद्वान को संस्कृत सिखा कर उससे चीनी सीखी, एक जापानी को हिन्दी पढ़ा कर उससे जापानी सीखी। अपने साथियों के सम्पर्क में आकर गुजराती, मराठी, बांग्ला सीखी। प्रिंसिपल मलकानी के सम्पर्क से सिंधी तथा क्वीन्स संस्कृत कॉलेज के विद्वान प्रो. मलवनी से ग्रीक (यूनानी) भाषा सीखी। इस प्रकार जहाँ जिससे जो विद्या मिलती रही उससे तत्परतापूर्वक सीखते रहे। पंडित त्रिपाठी गायनाचार्यजी से संगीत और श्रीपाठकजी मृदंगाचार्य जी से मृदंग सीखा। संगीत विद्यालय में ही तबला भी सीखा और इसराज बजाना भी सीखा।

गुरुवर चतुर्वेदी जी सबसे पहले सेंट्रल हिन्दू स्कूल, कामच्छ, वाराणसी में अध्यापक हुए। वे बहुत अच्छे अध्यापक थे। अच्छे खिलाड़ी थे, अच्छे गायक और वादक भी थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण उनका चयन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिग कॉलेज में पहले संगीत शिक्षक, फिर प्रवक्ता पद पर हो गया। टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज में पढ़ाते समय इन्हें अनेक साहित्यकारों के अध्यापन का सुयोग मिला। इनके साहित्यकार शिष्यों में पण्डित रामबहोरी शुक्ल (भूतपूर्व सहायक शिक्षा सचिव, माध्यमिक शिक्षा परिषद्, इलाहाबाद), कविवर बच्चन, पण्डित करुणापति त्रिपाठी (भूतपूर्व उपकुलपति संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी और अध्यक्ष, संस्कृत अकादमी, उ.प्र.), श्री निरंकार देव सेवक, डॉ. भगवती प्रसाद सिंह (भूतपूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, गोरखपुर वि.वि.), डॉ. रामलाल सिंह (भूतपूर्व अध्यक्ष,लोक सेवा आयोग, उ.प्र.), डॉ. कृष्णदेव प्रसाद उपाध्याय आदि हैं।

1946 में चतुर्वेदी जी, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के भारतीय विद्या भवन, बंबई में हिंदी और पालि भाषा विभाग के अध्यक्ष होकर चले गए।वहाँ से वे 1950 में सतीशचंद्र कॉलेज, बलिया के प्राचार्य होकर लौट आए। फिर मुरली मनोहर टाउन डिग्री कॉलेज में 1957 से 1962 तक प्राचार्य रहे। इसके बाद आप बिन्नानी विद्या मंदिर, कलकत्ता में निदेशक होकर चले गए और बिना पुस्तक के छात्रों के पढ़ने-पढ़ाने का प्रयोग करते रहे।

बनारसी मस्ती के एक प्रसंग में गुरुवर ने लिखा है कि समूचे विश्व में बनारसी मस्ती की अनोखी धूम है। इसी बनारसी मस्ती के रंग में रंगे जिन बनारसी ठलुओं ने सन् 1960 ई. में ठलुआ क्लब बनाया, उनमें प्रमुख थे कृष्णदेव प्रसाद गौड़, बेढब बनारसी, विश्वनाथ मुखर्जी और गोपालराम गहमरी। अभिनवभरत आचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी भी इस क्लब से गहरे जुड़ कर मस्ती छानते रहे और बरसों तक इसके ठलुआ गणपति (अध्यक्ष) भी बने रहे। मजे की बात यह कि वे जहाँ कहीं भी रहे बनारसी मस्ती और उसका पर्याय ठलुआ क्लब भी उनके साथ-साथ पूरे देश की यात्रा करता रहा। पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय कहते हैं कि चतुर्वेदी जी खाँटी बनारसी हैं। इनके जीवन में बनारसीपन छलकता रहता है। इन्होंने ठलुआ क्लब के संचालन में काफी योगदान दिया है। इन्होंने इस काशी में न जाने कितनों को ठलुआ बना दिया। आचार्यजी के क्षेत्र-संन्यास लेने के उपरांत क्लब का सारा कार्यभार विश्वनाथ मुखर्जी के कन्धों पर आ पड़ा और उनके तिरोधान के साथ ठलुआ क्लब भी तिरोहित हो गया।

गुरुवर चतुर्वेदी जी लिखते हैं—मेरी और मुखर्जी की बहुत-चिट्ठी-पत्री होती थी। मुखर्जी क्या

करते थे कि उनके पास जो लिफाफे आते थे और उन्हें बड़े करीने के साथ खोलते थे जिससे खोल न फट जाए और फिर उसी में अपनी चिट्ठी रखकर मेरे पास लौटा भेजते थे। मैं भी उन्नीस नहीं था। मैं भी उसी लिफाफे में अपनी चिट्ठी रखकर फिर उन्हीं के पास लौटा भेजता था।

भारतीय सिनेमा के पितामह पृथ्वीराज कपूर के तो वे गुरु ही रहे हैं। इसी से संबंधित एक प्रसंग का उल्लेख करते हुए डॉ. आशुतोष पाण्डेय बताते हैं कि मैं अपने बालपन से ही प्रतिभा के धनी आचार्य चतुर्वेदी जी के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं बहुरंगी कृतित्व से अत्यधिक प्रभावित था। उनके व्यक्तित्व के वैचित्र्य की प्रत्यक्ष झलक मुझे बम्बई में मिली। सन् 1931 ई. की शीत ऋतु में श्रीसाधुबेला आश्रम के नवनिर्मित भव्य भवन का उद्घाटन समारोह बड़ी सज-धज के साथ मनाया जा रहा था। उसमें आचार्य जी प्रधान निदेशक थे और मैं एक सामान्य कार्यकर्ता। एक दिन पंडितजी दोपहर के बाद अपने कक्ष में विश्राम कर रहे थे कि अचानक वहाँ पर भाँति-भाँति के लोगों की भीड़ लग गई। सबसे पहले परम प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने पंडितजी के चरणों का स्पर्श किया। उसके बाद अनेक नर-नारियों ने श्रद्धापूर्वक चरण स्पर्श किया। हम लोग हतप्रभ भाव से सबके बैठने का प्रबंध करने लगे। सभी लोगों के यथास्थान बैठ जाने के बाद मिस्टर कपूर साहिब ने कहना आरंभ किया—मेरे अजीज दोस्तों, यही हैं पंडित सीतारामजी जो हमारे कला-गुरू हैं। इन्हीं की मेहरबानी से मैं आज यहाँ तक पहुँच सका हूँ। शुरू-शुरू में जब मैं यहाँ आया था तो सिनेमा जगत में मुझसे कोई सीधे मुँह बात नहीं करता था। अपने को न ऐक्टिंग करने आती थी, न हिन्दी बोलना आती थी। ऐसी हालत में भी पंडितजी ने मुझे ऐक्टिंग करना और हिन्दी बोलना सिखाया। मैं ताजिन्दगी पंडितजी का एहसानमन्द रहूँगा।

गुरुवर चतुर्वेदी जी के शिष्य डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार, भरत मुनि केवल नाट्यशास्त्र के आचार्य थे। परन्तु इस 'अभिनवभरतकी विशेषता यह थी कि ये एक साथ ही नाट्याचार्य, नाटककार तथा कुशल कुसीलव भी हैं। इनके नाट्यशास्त्रीय ज्ञान तथा पाण्डित्य एवं अभिनय कुशलता की चर्चा करते हुए बताते हैं कि सम्वत् 2000 वि. में काशी में विक्रम परिषद्की स्थापना की गई थी जिसके प्रमुख संस्थापकों में आचार्यपाद ही थे। इसी अवसर पर चतुर्वेदी जी के द्वारा लिखित कालिदास नामक नाटक का अभिनय काशी के सुप्रसिद्ध सिनेमा गृह चित्रामें आयोजित किया गया था। उस अभिनय में मूर्ख कालिदास का पार्ट इस नाटक के लेखक चतुर्वेदी जी ने स्वयं किया था। मैं उस अवसर पर उपस्थित था। नाटक के प्रारम्भ होने पर जब परदा उठा तो मैं क्या देखता हूँ कि एक काला कलूटा देहाती व्यक्ति, नंगे बदन परन्तु सिर पर कपड़ा बाँधे, हाथ में कुल्हाड़ी लेकर उसी डाल को काट रहा है जिस पर वह बैठा था। काटते-काटते वह शाखा टूट कर धड़ से जमीन पर गिर गई। इसके साथ उस शाखा को काटने वाला देहाती भी धड़ाम से जमीन पर आ गिरा जिससे उसे चोट भी आई। उस मूर्ख के गिरते ही दर्शकों ने जोरों से तालियाँ पीटनी शुरू कर दी। लोगों से पूछने पर मुझे पता चला कि यह मूर्खाचार्य अन्य कोई व्यक्ति नहीं बल्कि स्वयं नाट्याचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी ही थे।

गुरुवर चतुर्वेदी जी सदैव अपने शिष्यों के लिए समर्पित रहे। इसके लिए इन्हें बलिदान भी करना पड़ा। ऐसी ही एक घटना का जिक्र करना समीचीन होगा। सन् 1949 के जुलाई में छात्रों का प्रवेश आरम्भ हुआ। एक छात्र ने पंडितजी से अकेले में मिल कर अपने प्रवेश के लिए निवेदन किया। पंडितजी ने सामान्य भाव से कह दिया कि तुम्हें प्रवेश मिलेगा। दूसरे दिन प्रवेश-समिति के सदस्यों ने बतलाया कि वह प्रत्याशी सरकार की ओर से अपराधी घोषित

किया गया है, अत: उसका प्रवेश निषिद्ध है। आचार्यजी ने मुस्कारते हुए कहा—'यह तो विद्या-मन्दिर है, यहाँ सरस्वती के भक्त के प्रवेश को निषिद्ध करने का अधिकार किसी को नहीं है। आचार्यजी ने सब कुछ जानते हुए भी उसको प्रवेश दे दिया, साथ ही उसे एक शैक्षिक फोरम का अध्यक्ष भी बना दिया। यह चर्चा चिंगारी की भाँति चारों ओर फैल गई। सरकारी अधिकारी इससे रुष्ट हो गए। जिला अधिकारी और पुलिस अधीक्षक के पत्र आने लगे। पंडितजी ने उनपर कोई ध्यान नहीं दिया। उन लोगों ने प्रान्तीय सरकार को लिखा। लखनऊ से कुछ चतुर अधिकारी भेजे गए। पंडितजी ने समझाया—आप अधिकारी हैं और आपका काम है अपराधों या दुर्गुणों का पता लगाकर तदनुसार व्यक्ति को दण्डित करना। हम लोग शिक्षक हैं और हमारा काम है—व्यक्ति के सद्गुणों का पता लगाकर उनके विकास की सुव्यवस्था करना। इस प्रकार हमारे और आपके दायित्वों में पर्याप्त अन्तर है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम लोगों ने आपके अपराधी को प्रवेश देकर आपके ही उद्देश्य की पूर्ति की है। दण्ड का भी प्रमुख उद्देश्य है अपराधी का सुधार। प्रवेश पा जाने के बाद आपके अपराधी में अकल्पनीय सुधार आ गया है, जो दण्ड के द्वारा असम्भव है। अधिकारी लोग आचार्यजी के विशाल व्यक्तित्व एवं आचरण से प्रभावित होकर वापस चले गए और वह छात्र अच्छे लड़के की तरह पढ़ता रहा।

केदारनाथ पाण्डेय लिखते हैं कि एक दो बार ऐसा हुआ कि कक्षाएँ खाली रहीं तो हम शिकायत लेकर आचार्यजी के पास पहुँच गए। उन्होंने हँसते हुए कहा कि महाविद्यालय में पढ़ रहे हो, यहाँ कक्षाएँ खाली भी रहती हैं। हम काफी शर्मिन्दा हुए। कभी-कभी हिन्दी अथवा अंग्रेजी की कक्षाएँ खाली रहती तो वे स्वयं पढ़ाने आ जाते। उनकी कक्षाएँ बड़ी रोचक होतीं। जब हम बी.ए. द्वितीय वर्ष के छात्र थे, एक बार वे अंग्रेजी कक्षा में आ गए। के.बी. साहब छुट्टी पर थे। एक छोटी-सी कविता शुरू की। अंग्रेजी के एक शब्द के कई अर्थ बताए। हमें सिर्फ इतना ही पता था कि बिल का अर्थ चिड़िया की चोंच होता है। उनकी सबसे रोचक हिन्दी की वह कक्षा थी जिसमें उन्होंने तुलसी के सवैए पढ़ाया था—

सुनि सुन्दर बैन सुधा रस साने, सयानी है जानकी जान भली।

तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हें, समुझाई कछू मुस्काइ चली॥

तिरछे करि नैन दे सैनको समझाने के लिए कन्धे पर रखे लम्बे गमछे का घूँघट बनाकर, आँखों को तिरछा कर इशारे से सीता की भूमिका दिखा दी। अभिनय से कक्षा की लड़कियाँ जहाँ संकुचित हो गईं, लड़के जी भर आनंदित हुए। अभिनय और संवाद की मिश्रित शैली ने सवैये के रेशे-रेशे को छात्र-छात्राओं के समक्ष खोल दिया। आचार्यजी कहा करते थे कि शिक्षण स्वयं विधि है।आगे सफल अध्यापक बनने में उनके इस शिक्षण ने काफी मार्गदर्शन किया। साहित्य की कक्षा में रसाभिव्यक्ति न हो, अध्यापक और छात्र क्षण भर के लिए प्रसंग विशेष में अपने को भूल न जाए तो पाठ का उद्देश्य ही पूरा नहीं होता।

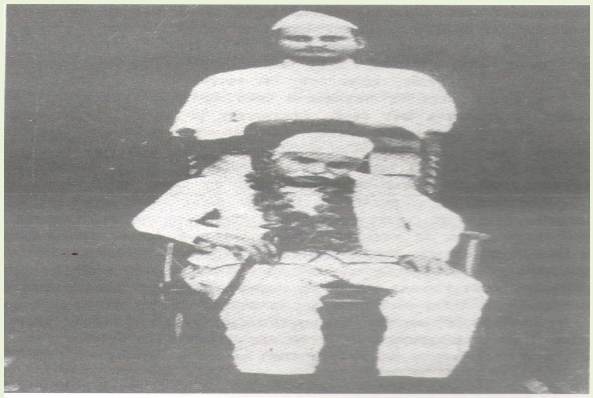

मालवीय जी के पीछे खड़े पं. सीताराम चतुर्वेदी

विदित हो कि आचार्यजी पूरे 23 वर्षों तक महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के निजी सचिव भी रहे थे। महात्मा गाँधी से पूर्ण प्रभावित रहे, उनके आन्दोलन में

भाग लिया। मुजफ्फरनगर, बम्बई और बनारस—तीनों जगहों में आन्दोलन में लगे रहे। सन् 1926 ई. में मालवीय जी महाराज का पत्र लेकर वे गाँधीजी के पास गए और उनसे कहा कि मैं कुछ सेवा करना चाहता हूँ। उन्होंने कहा कि आप तत्काल मद्रास चले जाओ और वहाँ हिन्दुस्तानी प्रचार सभा (अब हिन्दी प्रचार सभा) में हिन्दी का प्रचार करो। वे चले गए। वहाँ उन्हें श्रीमोटूरि सत्यनारायण जी मिले। उन्होंने उनके काम की हामी भरी। आचार्यजी काम में लग गए। चलते समय गाँधीजी ने उनसे कहा था कि एक भी शब्द अंग्रेजी का कहीं न बोलना। जिसके यहाँ द्वार सवेरे खुले, उसके यहाँ जाकर, उनसे कहना कि गांधीजी ने मुझे हिन्दी पढ़ाने के लिए भेजा है। अपनी लालटेन ले जाना, अपनी पुस्तकें ले जाना, अपनी चटाई ले जाना। इस तरह से आचार्यजी ने चार-पाँच वर्षों में लगभग एक हजार परिवारों को पढ़ाया। उनमें से एक ने भी पढ़ने से अनिच्छा प्रकट नहीं की।

उनका अध्ययन अत्यन्त विस्तृत था। या यों कहा जाए कि विशद ज्ञान ही आचार्यजी के रूप में विग्रहवान्हुआ था। पता नहीं चलता था कि उनका मूल विषय क्या था। धर्म, साहित्य, दर्शन, भाषा-विज्ञान, व्याकरण, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, इत्यादि-इत्यादि पर समान अधिकार। काशी की तरह यह अपनी खास विशेषता है। ऐसे विद्वानों की वहाँ सुदीर्घ परम्परा रही है। गुरुवर आचार्य चतुर्वेदीजी की पीढ़ी में भी तो महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इत्यादि विद्वान् इसी क्षमता के रहे हैं।

"गुरुदेव, प्रेमचन्दजी यहाँ कहाँ रहते थे? एक बार मैंने पूछा था। मेरा प्रश्न सुन वे अपने मकान से बाहर निकले और कथा-सम्राट्मुंशी प्रेमचन्द के मकान के निकट तक हमें ले गए। बतलाया, "यही घर है प्रेमचन्दजी का। यहाँ कुछ दूर पर प्रसादजी (महाकवि जयशंकर प्रसाद) का भी निवास-स्थान है। एक समय था जब हम लोग इस बेनिया बाग में बैठते थे। बातचीत के क्रम में समय का भान नहीं रहता था। प्रतिदिन मिलना होता था। मौज-मस्ती का जीवन था। नई-नई रचनाओं पर चर्चा होती थी। साहित्य और समाज वार्तालाप के विषय बनकर हमारे समक्ष उपस्थित रहते थे। आज वे विभूतियाँ नहीं रहीं। उनका अभाव सदा खटकता रहता है।

एक बार उनके कार्यालय में सम्मेलन पत्रिका का मानस चतुश्शती विशेषांक दीख पड़ा। हंसजी ने कहा, "अगर चौखम्बा में यह पुस्तक मिल जाए तो इसे ले लिया जाए। आचार्यजी बोले, "पढ़ना हो तो इसे ही ले जाओ। पढ़ कर भेज देना। हम लोगों ने जोर देकर कहा कि चौखम्बा में यह पुस्तक मिल जानी चाहिए, वहीं से ले लेंगे। वे हँस पड़े।

"जानते हो एक बात?

"जी, क्या?

"एक बार डॉ. शिवप्रसाद सिंह मेरी पुस्तक (समीक्षा-शास्त्र) पढ़ने के लिए ले गए। कुछ दिनों के बाद मैंने फोन किया—पुस्तक भेज दीजिए। उन्होंने अपने नौकर से उस पुस्तक का मूल्य भेज दिया। मैंने कहा कि भाई मैंने पुस्तक बेची नहीं है। वही एक प्रति बची है, उसे अपने लिए रखा है। किताब लौटा दीजिए। किताब तो उन्होंने लौटा दी, पर फोन पर कहा, "गुरुजी, जो अपनी पुस्तक किसी को देता है, वह मूर्ख है और जो पुस्तक लेकर लौटा देता है, वह उससे भी बड़ा मूर्ख है। फिर क्या था, हँसी का फव्वारा छूटा और वातावरण गूँज उठा।

जगदीश सिंह जी के अनुसार एक बार षड्यन्त्र में उलझा। समझ नहीं पा रहा था कि आखिर षड्यन्त्रके षट्यन्त्र और कौन-से हैं। स्वर्गीय पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय ने योग के षट्चक्रों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। परन्तु इससे मेरी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। लोक में षड्यन्त्र का जिस अर्थ में प्रयोग होता है, उसके आधार पर मैं षड्यन्त्रों को ढूँढ़

रहा था। अंत में आचार्य चतुर्वेदी जी का 17.04.1992 दिनांकित पत्र आया—''जब कोई एक व्यक्ति या अनेक व्यक्ति निम्नांकित छह दुष्कर्मों के लिए दुरभिसंधि करते हैं तो उसे षड्यन्त्र कहते हैं—बन्धन, अपहरण, धन-हरण, अग्निदाह, विष-प्रयोग और वध। प्राचीन दस्युओं की कर्म तालिका में यह विवरण अनेक प्रसंगों में आया है।''

सचमुच जीवन कर्म-प्रवाह है। न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठयकर्मकृत्। आचार्य श्री ने उन्नीस वर्ष की अवस्था से जो लोकाराधन आरम्भ किया वह अन्त तक बना रहा। लेखनी सैदव गतिशील रही और एक-एक करके कोई 214 ग्रन्थों का प्रणयन कर डाला आपने। आपके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में अभिनव नाट्यशास्त्र, समीक्षा-शास्त्र, मालवीयजी का जीवन-चरित आदि है। तुलसी-ग्रन्थावली, सूर-ग्रन्थावली और कालिदास-ग्रन्थावली का सम्पादन और अनुवाद बड़े ही महत्त्व का कार्य है।

लोकविश्रुत ग्रन्थ समीक्षा-शास्त्र कोई तेरह सौ पृष्ठों का है, जो अखिल भारतीय विक्रम परिषद् द्वार सन् 1954 ई. में प्रकाशित है। इस ग्रन्थ का नवीन संस्करण 1973 ई. में प्रकाशित हुआ है। इसमें संसार भर के साहित्य-रूपों, समीक्षा-सिद्धान्तों, प्रवृत्तियों, प्रयोगों तथा वादों का सविस्तार ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक निरूपण, परीक्षण और प्रतिपादन है।

समीक्षाशास्त्र और नाट्यशास्त्र में जो बातें छूट गई थीं, उन्हें साहित्यानुशासन में प्रतिपादित किया गया है। बाबू गुलाबराय के 'काव्य के रूप 'एवं 'काव्य के सिद्धान्त' द्विवेदीजी का 'साहित्य सहचर' एवं आचार्य बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्यशास्त्र'—इन सबों को मिलाकर जो एक विचार बनता है उसे 'साहित्यानुशासन' में प्रतिपादित किया गया है। पाश्चात्य साहित्य और भारतीय साहित्य को तुलनात्मक दृष्टि से भी देखा गया है।

गुरुवर चतुर्वेदी जी कहा करते थे कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कोई 266 (दो सौ छियासठ) ग्रन्थों के भावों का मानस में विनिवेश किया है।

इन बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार, विविध कलाओं और विद्याओं के विग्रह, अभिनवभरताचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी का जीवन और उनकी साधना बड़ों से बड़ों के लिए स्पृहणीय है।

जीवन के उत्तरार्ध काल में गुरुवर चतुर्वेदी जी मुजफ्फरनगर के वेदपाठी भवन में रहते थे, वहीं के महंत गणेशदास ने एक प्रसंग के हवाले से बताया कि जब वे पहली बार पंडितजी के बारे में सुनकर उनके आवास पर वाराणसी पहुँचे थे तो पंडितजी चार आशुलिपिकों को सामने बिठाकर अलग-अलग विषयों पर लिखवा रहे थे, जो सीधे टंकित ही कर रह थे, महंतजी स्तंभित रह गए कि चार अलग-अलग विषयों पर बिना किसी कागज एवं पुस्तक के चार जनों को बारी-बारी बताते जा रहे थे और वे टंकित करते जा रहे थे। तब से वह उनको ज्ञान के क्षेत्र में गुरु मानकर उनके चरण स्पर्श कर उनका स्वागत करते हैं। मैंने उन्हें खाली बैठे नहीं देखा। हमेशा लेखन कार्य में व्यस्त ही पाया था।

गुरुवर चतुर्वेदी जी ने पं. रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, कवि अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔंध' का शिष्यत्व ग्रहण किया। अपने जीवनकाल में जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द और कवि जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'से आपका निकट सम्पर्क रहा। गुरुवर चतुर्वेदीजी की शिष्य परम्परा में पंडित करुणापति त्रिपाठी, डॉ. किशोरीलाल गुप्त, डॉ. विष्णुकांत शास्त्री प्रभृति विद्वानों ने अपनी विद्वत्ता द्वारा उनके नाम में भी चार चाँद लगाए। विशाल व्यक्तित्व के साहित्यकार होने के साथ-साथ संगीत, अध्यापन, भाषा-विज्ञान, नाट्यशास्त्र, अभिनय आदि कई क्षेत्रों में गुरुवर चतुर्वेदी जी ने धाक जमाई है। आजीवन

चिन्तनशीलता, मृदुता, गम्भीर प्रकृति, सादा जीवन और उच्च विचार आपके अभिन्न जीवन-मूल्य रहे हैं।

आचार्य चतुर्वेदीजी द्वारा लिखित एवं सम्पादित ग्रन्थों की संख्या दो सौ से भी अधिक है। यहाँ सभी का उल्लेख सम्भव नहीं है। उनके द्वारा रचित ऐतिहासिक नाटकों में 'हर्षवर्धन' (1924) और 'अंगुलिमाल' (1944) की चर्चा होती है। इसके अतिरिक्त 'बेचारा केशव' (1930-1956), 'अनारकली' (1952) और 'अलका' (1946-1956) उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। जीवनीपरक पुस्तकों में पंडित मदनमोहन मालवीय (1972), हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत अपनी विशिष्ट पहचान रखती है। मेरा मानना है कि परिश्रम और ईमानदारी से वर्तमान रचनाकार अगर अपने लेखकीय धर्म का दायित्व निर्वहन करें तो आचार्यजी की भाँति ही सशक्त रचनाएँ वह समाज को प्रदान कर सकते हैं।

मुजफ्फनगर में आचार्यजी का निवास-स्थान वेदपाठी भवन एक शिक्षा का मन्दिर रहा जहाँ उनके द्वारा स्थापित पुस्तकालय में लगभग तीस हजार पुस्तकें हैं। देश के विभिन्न स्थानों से अधिक और शोधार्थी यहाँ आते और इन ग्रन्थों का रसपान करते रहे हैं। आचार्य चतुर्वेदी कहते थें कि प्रायः अद्‌भुत लोकोत्तर कार्य वे ही लोग कर सकते हैं जिन्हें उचित अवसर प्राप्त हों। अवसर भी उन्हीं को प्राप्त हो सकते हैं जिनका जीवन संघर्षमय हो। संघर्ष वे ही लोग कर सकते हैं, जिनके पास साधन हों, और साधन उन्हीं के पास होते हैं जो शक्तिशाली या सत्ताधारी होते हैं। लेकिन गुरुजी न सासांरिक दृष्टि से शक्तिशाली थे और न ही सत्ताधारी, अतः साधन भी नहीं था। लेकिन उन्होंने अपने साध्य के लिए साधन जुटाने का अनूठा तरीका ढूंढ निकाला था, और यह तरीका था, पुस्तक प्रकाशन से पूर्व पेशगी की पेशकश। डॉ. जगदीश दत्त शर्मा के अनुसार लोगों को आश्चर्य होगा कि आचार्यजी ने इतनी पुस्तकें कैसे छपाई और उनकी बिक्री से अरबों की सम्पत्ति कमाई होगी? कोई वणिक वृत्ति का व्यक्ति कालीदास-ग्रन्थावली, तुलसी-ग्रन्थावली, सूर-ग्रन्थावली, श्रीमद्गीतात्रयी, अभिनव नाट्यशास्त्र, समीक्षाशास्त्र, साहित्यानुशासनम्, भाषाशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, नाट्य, काव्य, कहानी, उपन्यास, जीवन चरित, संस्मरण आदि से अरबों की सम्पत्ति अर्जित कर सकता था, किन्तु धन-लिप्सा से दूर गुरुवर चतुर्वेदी जी ने इस विपुल साहित्य के प्रकाशन की एक सुनिश्चित योजना बनाई थी। समस्त पुस्तकों के प्रकाशनार्थ उन्होंने पहले से ही सस्ते मूल्य पर अग्रिम ग्राहक बनाए और इस प्रकार प्राप्त धन से कागज और छपाई की व्यवस्था की। श्रम अपना था ही। इन ग्रन्थों से उन्हें प्रकाशकों की भाँति अर्थ-लाभ नहीं करना था, वरन्‌ऋषि-ऋण से उऋण होना, सत्साहित्य-प्रचार तथा साहित्य-सेवा उनका लक्ष्य था। यश तो उन्हें इससे मिलना ही था, किन्तु जीवन के अंतिम तीस-पैंतीस वर्षों में यशलिप्सा भी उन्हें आकर्षित नहीं कर सकी।

डॉ. प्रकाश द्विवेदी के अनुसार, उन्होंने साहित्य की प्राय: समस्त विधाओं में लेखनी चलाई है। उनके समस्त ग्रन्थों के वाचनमें एक व्यक्ति का पूरा जीवन बीत जाएगा। उनको कभी किसी ग्रन्थ की पाण्डुलिपि बनाते मैंने नहीं देखा। यहाँ तक कि उसके लिए किसी विशेष कागज आदि की भी उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी। प्राय: एक तरफ सादे कागजों पर, गम्भीर से गम्भीर विषय पर, बोल-बोल कर लिखाते हुए ही उन्हें मैंने देखा है। एक दिन में जितना लिख जाता, उतना कम्पोज हो जाता, फिर दूसरे दिन उसका प्रूफ देखा जाता। प्रूफ आचार्यजी स्वयं देखते। इसी क्रम से उनके बृहद् से बृहद् एवं मूल्यवान से मूल्यवान ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

भारत में कोई ऐसा बड़ा नेता, संत या लेखक नहीं हुआ जिसको वे व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते थे। धीरे-धीरे हमको भी समझ में आ गया कि उनसे बात कैसे निकलवाई जाए। उन्हीं से जाना गाँधीजी के कठोर अनुशासन के बारे में, विनोबाजी के

आध्यात्मिक ज्ञान के बारे में, मालवीयजीके देशप्रेम और कठिनाइयों का सामना करने की समझ के बारे में। ओशो भी उनके साथ अध्यापक रहे थे, उनके बारे में सीधा प्रश्न किया तो सीधा जवाब मिला He was a genius but took a wrong direction निरालाजी, प्रेमचन्दजी तो सब उनके सखा थे और हर सुबह वे सब साथ घूमा करते थे।

हर बात उन्हें तिथि सहित मालूम थी—60-70 साल पुरानी बात भी तिथि के साथ बता देते थे। जब मैंने उनकी विलक्षण स्मृति का भेद पूछा तो बोले, बहुत सरल है, किसी घटना से जोड़ लो। कोई विषय ऐसा नहीं था जिसके बारे में पूरा ज्ञान न हो। पाली में उन्होंने एम.ए. कैसे किया इसका भी रोचक वृतांत है। वह पाली के प्रथम एम.ए. थे इसलिए परीक्षक ही नहीं मिल रहे थे। हिन्दी के दो आचार्यों ने परीक्षा ली और यही कहकर उत्तीर्ण किया कि तुम स्वयं ही छात्र, अध्यापक और परीक्षक हो—तुम्हारी कोई परीक्षा नहीं ले सकता।

आठवीं कक्षा में पढ़ते समय से आचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदीजी ने जिस नाट्य संसार में कदम रखा था उससे वे कभी मुक्त नहीं हो पाए और हिन्दी साहित्य संसार को बेचारा केशव, वसन्त, प्रसाद, अंगुलिमाल, विक्रमादित्य, आचार्य विष्णुगुप्त, सेनापति पुष्यमित्र, शबरी, मंगल प्रभात, अनारकली आदि अनेकों, नाटकों से समृद्ध किया। डॉ. रामनरेश मिश्र हंस के अनुसार, 1961 ई. में पूरा साहस बटोर कर बेनिया बाग पहुँचा। छोटी पियरी निकट थी। आश्चर्य से भर उठा तो अपनी अल्पज्ञता पर लज्जित भी हुआ। आचार्य प्रवर के चरण स्पर्श किए। कुछ मिनट की बातचीत ने ही आचार्य प्रवर के प्रति सम्मोहक आकर्षण और अपनापन पैदा कर दिया। कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक कसौटी दी है—किसी के पास कुछ क्षण रह कर उनकी बातें सुन लौटते वक्त यदि अनुभव हो कि तुम कुछ बड़े होकर लौट रहे हो तो समझो कि वह व्यक्ति निश्चित रूप से बड़ा है और, यदि लगता हो कि तुम कुछ छोटे हो गए हो तो वह व्यक्ति निश्चित ही छोटा है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के पास जा कुछ समय बाद लौटते समय मुझे हर बार लगा है कि मेरा कद (सारस्वत काया का) कुछ बढ़ गया है और मैं कुछ बड़ा और तेजोमय हो गया हूँ। औरों के पास जाने पर अपने कद का बौनापन बढ़ता दिखा है और अपने कद का घटना खला भी है। आज सोचता हूँ—यह 'लगना' क्रिया भी बड़ी ही विलक्षण है। किसी ने कहा है पागल, प्रेमी, दार्शनिक और कवि सभी एक ही श्रेणी के हुआ करते हैं (Lover, Philospher & Poet all are lunatic)। मेरे भीतर के हंस को इनमें फर्क मालूम पड़ा है—लगने का। पागल की बातें किसी को नहीं लगतीं, प्रेमी की बातें एक को लगती हैं, दार्शनिक की बातें कुछ लोगों को लगती हैं तो कवि-कलाकार की बातें सबों को लगती हैं। महान विभूतियों की बातें भी सबों को लगती हैं; पर, अपने-अपने ढंग से।

पण्डित सीताराम चतुर्वेदी के कृतित्व का स्मरण भारतीय सारस्वत परम्परा का सम्मान है। 17 फरवरी 2005 को 98 वर्ष की आयु में गुरुवर चतुर्वेदी ने इस नश्वर देह का त्याग किया लेकिन उनका यशः काया सदैव विद्यमान रहेगी। वे सर्वसुलभ और सर्वप्रिय होते हुए भी सच्चे और सभी अर्थों में साहित्य के आचार्य हैं और उससे भी बड़े हैं इस अर्थ में कि वे सच्चे अर्थों में मनुष्य हैं और मनुष्य होना संसार का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। साहित्य, कला, संस्कृति सभी क्षेत्रों में वे ऐसे शिखर हैं जिसकी अपनी गरिमा और ऊँचाई है।

संदर्भ ग्रंथ

1. चतुर्वेदी यश सिंधु
2. समीक्षाशास्त्र
3. भरतमुनि का नाट्य शास्त्र
4. पंडित सीताराम चतुर्वेदी का अभिनव नाट्य शास्त्र

*****

संस्कृति: भारत की आत्मा की अनन्त गूंज

हिमांशु सुंदरियाल
शोधार्थी

"जहाँ संस्कृति है, वहीं संस्कार है; जहाँ संस्कार है, वहीं परिवार है; और जहाँ परिवार है, वहीं मानवता की समृद्ध परंपरा सुरक्षित है।"

भारत केवल एक भौगोलिक इकाई नहीं, वह एक चेतनामयी सभ्यता है — जो सांस लेती है अपने ग्रंथों में, बोलती है अपनी बोलियों में, और मुस्कराती है अपने लोकजीवन में। यह वह धरती है जहाँ संस्कृति केवल संग्रहालयों की वस्तु नहीं, अपितु जीवंत व्यवहार है; जहाँ परंपरा दीवारों पर टंगी नहीं, हृदय में धड़कती है; और जहाँ उत्सव केवल तारीखों पर नहीं, ऋतुओं के स्पंदन में होते हैं। यहाँ संस्कृति किसी पाठ्यपुस्तक की परिभाषा नहीं, बल्कि माँ की लोरी, तुलसी चौरा की गंध, गाँव की चौपाल की बातचीत, मंदिर की घंटियों की गूंज, खेत की मेड़ पर पके सरसों के फूल, और अतिथि के लिए चढ़ाया गया गुड़ का टुकड़ा है। यही वह भारत है, जहाँ "संस्कार" शिशु के पहले शब्द से जुड़ता है और मृत्यु के उपरांत भी श्राद्ध बनकर पीढ़ियों तक प्रवाहित रहता है।

यही वह भारत है, जिसकी अनुभूति को शब्द देने के लिए अटल बिहारी वाजपेयी जी ने कहा था "भारत जमीन का टुकड़ा नहीं, जीता-जागता राष्ट्रपुरुष है। हिमालय मस्तक है, कश्मीर किरीट है, पंजाब और बंगाल दो विशाल कंधे हैं। पूर्वी और पश्चिमी घाट दो विशाल जंघाएँ हैं। कन्याकुमारी इसके चरण हैं। सागर इसके पाँव पखारता है। यह चंदन है, यह पानी है, यह अरण्य है, यह उपवन है, यह कंकर है, यह शंकर है, इसका कंकर-कंकर शंकर है, इसका बिन्दु-बिन्दु गंगाजल है। हम जिएँगे तो इसके लिए, मरेंगे तो इसके लिए।

भारत की बौद्धिक विरासत का एक अनूठा प्रकाशस्तंभ उसकी प्राचीन शैक्षिक परंपरा है, जो केवल ज्ञान नहीं, संस्कृति की जीवंत चेतना को भी पोषित करती रही है। नालंदा, तक्षशिला, विक्रमशिला, वल्लभी और उदयंत जैसे विश्वविद्यालय केवल ईंट-पत्थरों से बने भवन नहीं थे, बल्कि वे विचारों, विवेक और वैचारिक विमर्श की तपस्थली थे। इन संस्थानों में दूर-दूर से छात्र आते थे केवल शास्त्रों का अध्ययन करने नहीं, अपितु आत्मा का संस्कार और चरित्र का निर्माण करने।

नालंदा के 'धर्मगंज' पुस्तकालय में जब लाखों पांडुलिपियाँ दीप की लौ में आलोकित होती थीं, तब वह प्रकाश चीन, कोरिया, तिब्बत और जापान तक भारत की सांस्कृतिक रोशनी फैलाता था। तक्षशिला केवल दर्शन का केंद्र नहीं था, वहाँ गणित, खगोल, आयुर्वेद, युद्धनीति, अर्थशास्त्र और धातुकला तक की उच्च शिक्षा दी जाती थी। ये विश्वविद्यालय हमारी उस सभ्यता के प्रतीक हैं जिसमें शिक्षा केवल ज्ञानार्जन का माध्यम नहीं, आत्मोन्नति की साधना थी। आज जब हम 'नॉलेज सोसायटी' की बात करते हैं, तब यह स्मरण आवश्यक है कि भारत ने सहस्त्रों वर्षों पहले ही ज्ञान को परम मूल्य के रूप में स्थापित किया था "सा विद्या या विमुक्तये" की भावना के साथ। यही परंपरा आज भी हमारे शैक्षिक चिंतन को गहराई, व्यापकता और सांस्कृतिक आत्मबोध प्रदान करती है।

यदि संस्कृति हृदय है, तो कला उसकी धड़कन है। भारतीय कला में वह अपूर्व क्षमता है, जो मौन को भी मुखर बना देती है। नटराज की मुद्रा में ब्रह्मांडीय गति है, अजन्ता की भित्तिचित्रों में करुणा

और सौंदर्य का समागम है, बनारस की संगीत गलियों में शाश्वत लय है, और लोकधुनों में मिट्टी की गंध बसती है। यहाँ हर रंग, हर रेखा, हर राग, हर शब्द एक आत्मीय संवाद है। यह संवाद केवल सुनने का नहीं, अनुभव का है। यह केवल मंचों पर नहीं, जीवन की चाल में है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में नृत्य, संगीत, चित्रकला, शिल्पकला और वादन, सब कुछ ईश्वरीय अनुभूति का माध्यम रहे हैं। हमारे लोकनाट्य और लोकगीत, चित्रकथा और मंदिर की शिल्प संरचनाएँ केवल अभिव्यक्ति नहीं, आत्मा की भाषा हैं।

हमारी सांस्कृतिक चेतना प्रकृति के साथ अद्‌भुत समरसता में रची-बसी है। पंचमहाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश केवल तत्व नहीं, अपितु जीवन के वे आधारस्तंभ हैं जिन पर हमारा चिंतन, अनुष्ठान और व्यवहार टिका है। तुलसी का पूजन, पीपल की परिक्रमा, गंगाजल का आचमन या अग्नि के समक्ष सात फेरे ये सब क्रियाएं प्रतीकात्मक नहीं, बल्कि हमारे भीतर प्रकृति के प्रति श्रद्धा और सह-अस्तित्व की अनुभूति हैं। हमारे देवता भी प्रकृति से जुड़े हैं शिव हिमालय की गुफाओं में, राम अरण्यवास में, कृष्ण यमुना तट पर और देवी शक्ति पर्वतराज की पुत्री के रूप में। हमारी वंदनाएं पर्वतों, नदियों, वृक्षों और वनों को समर्पित हैं क्योंकि हमारे लिए प्रकृति पूजनीय है, उपभोग की नहीं, उपासना की वस्तु है। हमारे पर्व और त्योहार केवल उल्लास नहीं, ऋतुओं की गति और कृषि के प्रवाह से जुड़ी आत्मीय घटनाएं हैं जैसे होली वसंत का स्वागत है, तो दीपावली अंधकार पर प्रकाश की विजय के साथ नई फसल के स्वागत का भाव है। यह संस्कृति हमें सिखाती है कि पृथ्वी केवल धरती नहीं, माँ है; जल केवल संसाधन नहीं, जीवन है; और वृक्ष केवल लकड़ी नहीं, आत्मीय संबंधों के साक्षी हैं। यह दृष्टिकोण मनुष्य को ब्रह्मांड के साथ एक सूक्ष्म, संवेदनशील और सहभावित सूत्र में बाँधता है यही वह भाव है, जो हमारी संस्कृति को युगों तक प्रासंगिक बनाता है।

हमारे जीवन की बुनियाद भी इसी परंपरा में रची-बसी है। विवाह केवल दो व्यक्तियों का नहीं, दो परिवारों, दो परंपराओं और दो संस्कारों का पवित्र संगम होता है। सप्तपदी से लेकर कन्यादान तक की प्रत्येक प्रक्रिया में गूंजता है आत्मिक एकत्व का संदेश। रसोई केवल स्वाद का केंद्र नहीं, वह एक संस्कारशाला है जहाँ अन्न को 'प्रसाद' माना जाता है, और भोजन से पहले 'अन्नदाता सुखी भव' बोला जाता है। वस्त्रों में 'गमछा' से लेकर 'पगड़ी', 'साड़ी' से लेकर 'धोती' तक हर परिधान में कोई कथा, कोई स्मृति, कोई पहचान जुड़ी होती है। आभूषण केवल सौंदर्य के उपकरण नहीं, शरीर के उन बिंदुओं पर ऊर्जा संतुलन का विज्ञान हैं जिन्हें आधुनिक चिकित्सा अब समझने लगी है। इस प्रकार जीवन के हर पक्ष में हमारी संस्कृति की जीवंत उपस्थिति बनी रहती है।

भारत को समझना हो, तो घूमना पड़ेगा खेतों से, घाटियों से, तीर्थों से, चौपालों से होकर क्योंकि भारत केवल नक्शे में नहीं, यात्राओं में जीवित है। काशी की गंगा आरती, उज्जैन का सिंहस्थ, अयोध्या का दीपोत्सव, केदारनाथ की बर्फीली चढ़ाई, द्वारका का समुद्र ये यात्राएँ केवल स्थल नहीं, संस्कारों की शाला हैं। जब कोई शिवभक्त काँवर लेकर गंगोत्री से हरिद्वार तक चलता है, तो वह थकता नहीं, तपता है। जब कोई श्रावणी मेला में झूमता है, तो वह नाचता नहीं, संस्कृति को धारण करता है। हमारी यात्रा संस्कृति हमें आत्म-अवलोकन सिखाती है, जैसे हर तीर्थ केवल पहुँचने की मंज़िल नहीं, भीतर उतरने की प्रक्रिया है। यह भारत की विशिष्टता है कि यहाँ पर्यटन केवल आनंद नहीं, साधना है; यहाँ यात्री केवल दर्शक नहीं, यात्री स्वयं तीर्थ बन जाता है।

हमारी सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव सीमाओं से परे गया। इंडोनेशिया, कंबोडिया, थाईलैंड, वियतनाम, लाओस और बाली ये सभी हमारी सांस्कृतिक ऊर्जा से आलोकित हुए हैं। अंकोरवाट का मंदिर, इंडोनेशिया की रामायण बालेट, बाली में

नियमित होने वाले यज्ञ यह सब दर्शाते हैं कि हमारी परंपरा 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना के साथ विश्व को जोड़ रही है। भाषा, नृत्य, संगीत, मूर्तिकला, मंदिर स्थापत्य सबमें भारत की छाया मिलती है। यह वह सांस्कृतिक कूटनीति है जो आज भी विश्व को जोड़ रही है, बिना किसी साम्राज्य की लालसा के, केवल प्रेम, शांति और आत्मीयता के माध्यम से और यह सब हमारी संस्कृति की सार्वकालिक प्रासंगिकता और जीवंतता का प्रमाण है।

उत्तराखंड जिसे देवभूमि कहा जाता है केवल मंदिरों की भूमि नहीं, बल्कि जीवंत लोकचेतना की वह तपोभूमि है जहाँ संस्कृति पर्वतों की तरह ऊँची और नदियों की तरह प्रवाहित होती है। यहाँ की भूमि पर आस्था केवल पूजा तक सीमित नहीं, बल्कि जीवन का मार्गदर्शन करती है। यहाँ के पर्वत केवल ऊँचाई का प्रतीक नहीं, बल्कि उदात्तता और आत्मसंयम का साक्षात् स्वरूप हैं। गढ़वाल की घाटियों में गूँजते ढोल-दमाऊँ की थाप हो या कुमाऊँ की लोकगाथाओं में रची-बसी राजुला-मालूशाही की करुण कथा यह सब उस सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा है जो पीढ़ियों से आत्मा को आलोकित करती रही है।

यहाँ जौनसार-बावर की जनजातियाँ अपने पारंपरिक रीति-रिवाज़ों, गीतों और वेशभूषा में आज भी प्रकृति और संस्कृति का सह-अस्तित्व जीती हैं। फूलदेई, हरेला, घुघुतिया, नंदा देवी राजजात और बग्वाल जैसे पर्व केवल उत्सव नहीं, लोकजीवन के गहरे भावात्मक आयाम हैं। इन पर्वों में ऋतुचक्र, कृषि, पारिवारिक संबंध और देवी-देवताओं के प्रति आस्था का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। उत्तराखंड के लोकनृत्य जैसे 'छोलिया', 'थड्या', 'झोड़ा', 'झूमैलो' न केवल सामूहिक आनंद के माध्यम हैं, बल्कि वे सामाजिक एकता, वीरता और जीवन के उल्लासपूर्ण दृष्टिकोण को भी प्रतिबिंबित करते हैं। यह नृत्य केवल कला नहीं, पीढ़ियों की अभिव्यक्ति हैं जिनमें ग्राम्य जीवन की धड़कनें, ऋतुओं के गीत और वीरगाथाओं की गूँज समाहित होती है। उत्तराखंड के परिधान भी उसी संस्कृति के संवाहक हैं गहनों में 'नथ', 'पौंची', 'चरेऊ', 'गुलोबन्द' और वस्त्रों में 'पिचौरा', 'घाघरा', 'ल्वेंठी' हर वस्तु केवल आभूषण नहीं, एक सामाजिक पहचान है, एक भाव है, जो जनजातीय और क्षेत्रीय विविधताओं को एक सूत्र में पिरोती है। यह वही भूमि है जहाँ आस्था केवल मंदिरों तक सीमित नहीं, बल्कि पराक्रम और आत्मबल का स्थायी अधिष्ठान है। उत्तराखंड की पर्वतीय छायाओं में जन्मीं वीर नारियाँ और सपूत, हमारे सांस्कृतिक गौरव की जीवंत मूर्तियाँ हैं। गढ़वाल की महारानी कर्णावती जिन्हें 'नक्कटी रानी' के नाम से जाना जाता है ने 17वीं शताब्दी में मुगल आक्रमण के विरुद्ध जिस साहस और रणनीति का परिचय दिया, वह केवल सैन्य उत्तर नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक अस्मिता की हुंकार थी। उनका आदेश, जिससे शत्रु की नाक कटवाई गई, केवल प्रतिशोध नहीं था वह अपने स्वाभिमान, संस्कृति और मातृभूमि के लिए खड़े होने की एक ऐतिहासिक उद्घोषणा थी।

इसी भूमि ने वीरांगना तेलू रौतेली को जन्म दिया, जो मात्र सोलह वर्ष की आयु में सात युद्ध जीतकर लोकगाथाओं की अमर नायिका बनीं। स्वतंत्रता संग्राम में 'वीर चंद्र सिंह गढ़वाली' ने जब अंग्रेजों के आदेश का उल्लंघन कर निहत्थे भारतीयों पर गोली चलाने से मना कर दिया, तो यह केवल एक सैनिक का नहीं, संस्कृति के नैतिक मूल्यों का उद्घोष था और 'जसवंत सिंह रावत' जिन्होंने अकेले मोर्चे पर अद्वितीय साहस से शत्रुओं को रोके रखा वे एक व्यक्ति नहीं, वीरता, निष्ठा और मातृभूमि के प्रति समर्पण की प्रतिमूर्ति बन गए। इन सभी योद्धाओं ने यह सिद्ध किया कि उत्तराखंड की संस्कृति केवल पूजा और पर्वों की नहीं, वह नैतिकता, वीरता और राष्ट्रीय चेतना की भी भूमि है। इनके त्याग में वह आत्मा बसती है जो उत्तराखंड की प्रत्येक गाथा, गीत और गूँज में विद्यमान है।

ऋषिकेश जिसे 'योग नगरी' कहा जाता है केवल एक नगर नहीं, आत्म-साधना की वैश्विक राजधानी बन चुका है। यहाँ बहने वाली गंगा की निर्मल धारा में योग, ध्यान और आत्मचिंतन की लहरें प्रवाहित होती हैं। विश्वभर से साधक यहाँ आकर केवल शरीर नहीं, आत्मा को भी निखारते हैं। हरिद्वार, जो 'हरि का द्वार' है, केवल तीर्थ नहीं, आस्था और सनातन परंपरा की वह अजस्र धारा है, जहाँ कुंभ के स्नान में करोड़ों लोग स्वयं को ब्रह्म से जोड़ते हैं। ये नगर केवल भूगोल नहीं, भारत की सांस्कृतिक चेतना के केंद्रबिंदु हैं। पिथौरागढ़ से पौड़ी तक, अल्मोड़ा से उत्तरकाशी तक, हर घाटी में कोई लोककथा है, जो न केवल मनोरंजन करती है, बल्कि जीवन के मूल्य सिखाती है। उत्तराखंड का सांस्कृतिक फलक इतना व्यापक है कि उसे शब्दों में बाँधना कठिन है यह एक जीवंत ग्रंथ है, जिसमें भाव, भक्ति, बलिदान, विज्ञान और विकास की गाथाएँ समान रूप से अंकित हैं। गढ़वाली, कुमाऊँनी, जौनसारी और भोटिया भाषाओं में रचे गए अपार साहित्य और लोककथाओं का खजाना 'अपर साहित्य कोश' की भांति आज भी जीवंत है। ये भाषाएँ केवल संवाद के माध्यम नहीं, सभ्यता की आत्मा हैं। उत्तराखंड की संस्कृति शब्दों, रंगों, ध्वनियों, आंदोलनों और कर्तव्यों का ऐसा समन्वय है, जो भारत की समग्र संस्कृति का हिमालयी प्रतिबिंब है।

इसी संस्कृति के संरक्षण के लिए इस पावन भूमि ने एक अद्वितीय पर्यावरणीय चेतना को जन्म दिया 'चिपको आंदोलन'। 1970 के दशक में उत्तराखंड की वनों की कटाई के विरुद्ध ग्रामीणों, विशेषकर महिलाओं ने जो साहस दिखाया, वह केवल वृक्षों को बचाने का आंदोलन नहीं था, बल्कि हमारी संस्कृति के मूल तत्व प्रकृति, सह-अस्तित्व और संवेदना की पुनःस्थापना का आह्वान था। 'पेड़ों से लिपट जाओ, उन्हें कटने मत दो' यह केवल एक नारा नहीं, बल्कि उस लोकचेतना की पुकार थी, जो पीढ़ियों से वृक्ष को देवता मानती रही है। सुंदरलाल बहुगुणा जैसे पर्यावरण-संतों के नेतृत्व में यह आंदोलन न केवल भारत, बल्कि विश्व के लिए पर्यावरणीय आंदोलनों का प्रेरणास्रोत बन गया। चिपको, उत्तराखंड की मिट्टी से उपजा वह भाव है जो बताता है कि हमारी संस्कृति केवल मनुष्यता तक सीमित नहीं, वह वृक्षों, पशुओं, नदियों और पर्वतों तक समान रूप से व्याप्त है।

जहाँ संस्कार है, वहाँ विकार नहीं टिकते। भारत की संस्कृति ने हमेशा मानव को महामानव बनाने की दिशा में कार्य किया है। बच्चे को अन्नप्राशन में पहला अन्न देने से पहले मंत्रोच्चार, विवाह से पूर्व वर-वधू का यज्ञ के समक्ष सात वचन, मृत्यु के उपरांत श्राद्ध इन सबमें केवल धार्मिकता नहीं, संवेदनशीलता और सामाजिक उत्तरदायित्व है। संस्कार सिखाते हैं कि "मैं" से "हम" की यात्रा ही मानवता का शिखर है। यही कारण है कि भारतीय जीवनपद्धति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का सामंजस्यपूर्ण समन्वय दिखाई देता है और यही संतुलन हमारी संस्कृति को अटूट बनाता है एक ऐसा जीवनदर्शन, जो केवल निजी नहीं, सार्वभौमिक है। यह परंपरा और विज्ञान का संबंध तर्क और साधना का रहा है। आयुर्वेद, योग, वास्तुशास्त्र, गणित, खगोलविज्ञान और धातु विज्ञान ये सभी हमारे प्राचीन वैज्ञानिक चिन्तन के उदाहरण हैं। आचार्य चरक और सुश्रुत चिकित्सा के अग्रदूत थे; आर्यभट और ब्रह्मगुप्त ने गणित को शून्य और बीजगणित का आधार दिया। ऋषियों ने हजारों वर्षों पूर्व 'ब्रह्मांड' की संकल्पना की और 'प्राण' की ऊर्जा को पहचाना। विज्ञान यहाँ केवल प्रयोग नहीं, अनुभूति भी था जो राष्ट्र की नहीं, समस्त विश्व की सेवा के लिए था। इस प्रकार भारतीय संस्कृति ज्ञान और विज्ञान दोनों की संगमस्थली रही है। आज डिजिटल युग है, परंतु मूल प्रश्न यही है क्या हमारी आत्मा डिजिटल हो गई है? नहीं। भारत का युवा आज भी गीता पढ़ना चाहता है, योग करना चाहता है, अपनी जड़ों से जुड़ना चाहता है। आधुनिकता और परंपरा में संघर्ष नहीं है, संवाद है। संस्कृति को रूढ़ि नहीं

बनाना, जीवंत बनाना है। यही उद्देश्य है आज की संस्कृति का कि वह पुरानी हो पर प्रासंगिक रहे, गहन हो पर ग्राह्य रहे, और सनातन हो पर नवोन्मेषी बने। आज का युग कलियुग है ('कलि' शब्द का एक अर्थ है 'मशीन') एक ऐसा समय जहाँ मशीनें मनुष्यता को बदल रही हैं, पर हमारी संस्कृति हमें याद दिलाती है कि तकनीक को आत्मा का विकल्प नहीं बनाना है, उसे आत्मा की सहायता बनाना है। आज हमारे विद्यालयों में यदि बच्चों को पंचतंत्र पढ़ाया जाए, तो वह केवल नैतिकता नहीं, नेतृत्व का पाठ सीखते हैं। और जब उन्हें भृगु-संहिता, रामायण, महाभारत और विज्ञान के साथ वेदों की अंतर्ध्वनि सिखाई जाती है, तब वे केवल ज्ञानी नहीं, संस्कारी भी बनते हैं।

वेद और पुराण हमारे साहित्य नहीं, हमारे अस्तित्व के प्रमाण हैं। ऋग्वेद के सूक्तों में सृष्टि की उत्पत्ति की गूंज है, सामवेद की ऋचाओं में लयबद्ध तपस्या की तरंगें हैं, यजुर्वेद में कर्म की स्पष्ट दिशा है और अथर्ववेद में जीवनोपयोगी विज्ञान, चिकित्सा और लोक-कल्याण का व्यावहारिक ज्ञान है। ये चारों वेद केवल ग्रंथ नहीं, भारतीय जीवन की चतुर्दिक चेतना के आधारस्तंभ हैं जो आज भी हमारे विचार, व्यवहार और संस्कार को दिशा देते हैं।

पुराण केवल देवी-देवताओं की कथाओं का संग्रह नहीं हैं, वे समाज के नैतिक अनुशासन, परिवार व्यवस्था, राजधर्म, स्त्री-सम्मान और पर्यावरण-संरक्षण जैसे जीवन-सिद्धांतों के उद्घोषक हैं। उनमें गंगा का उद्गम भी है और कलियुग का संकेत भी, हिमालय की स्थिरता भी है और मानव की गति भी। आज जब संपूर्ण विश्व पर्यावरणीय संकट, मानसिक असंतुलन और सांस्कृतिक विस्मृति से जूझ रहा है, तब भारत की यह सनातन संस्कृति सह-अस्तित्व, संतुलन और संवेदना का अमृतपाठ बनकर प्रस्तुत होती है। वेदों और पुराणों की इस दिव्य धरोहर को 'मिथक' या 'माइथोलॉजी' कहना हमारी सांस्कृतिक आत्मा का अपमान है। रामायण और महाभारत केवल ग्रंथ नहीं, भारत की सांस्कृतिक स्मृति, नीतिशास्त्र, आध्यात्मिक साधना और राष्ट्रीय चरित्र की जीवंत गाथाएँ हैं। पाश्चात्य जगत उन्हें "माइथोलॉजी" कहकर जिन घटनाओं को काल्पनिक मानता है, वे हमारे लिए श्रद्धा, परंपरा और मूल्यबोध के जीवंत स्रोत हैं। राम की मर्यादा, कृष्ण की नीति, अर्जुन का संशय और गीता का उपदेश ये सभी भारतीय चेतना के अविभाज्य अंग हैं, जिन पर न केवल संस्कृति, बल्कि राष्ट्र की आत्मा टिकी है। अतः यह समय है कि हम अपने ग्रंथों को 'माइथोलॉजी' की संज्ञा से मुक्त करें और उन्हें 'संस्कृतिक महाग्रंथ', 'चिरंतन बोधगाथाएँ' या 'भारत की आत्मकथा' के रूप में पुनः प्रतिष्ठित करें। वेद, रामायण और महाभारत न केवल भारत के हैं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के मार्गदर्शक हैं जो विश्व को धर्म, विवेक और करुणा की दिशा दिखा सकते हैं।

हमारी संस्कृति कोई म्यूज़ियम में रखी मूर्ति नहीं है, यह वह दीप है जो आने वाली पीढ़ियों को राह दिखा सकता है। यदि हमने अपनी भाषाओं को, लोककलाओं को, परंपराओं को संरक्षित किया, यदि हम अपने बच्चों को केवल अंग्रेज़ी नहीं, अपनी माँ की लोरी, अपने पितृकथा, अपने गाँव का इतिहास सिखा पाए, तो यकीन मानिए, भारत न केवल वर्तमान में जीवित रहेगा, बल्कि विश्वगुरु के रूप में पुनः प्रतिष्ठित होगा। यह सांस्कृतिक आत्मबल ही है, जिसने गुलामी के कालखंड में भी भारत की चेतना को मरा नहीं, अपितु और तेजस्वी बनाया। यही कारण है कि महात्मा गांधी चरखा चलाते हुए गीता पढ़ते थे और रवींद्रनाथ टैगोर ब्रह्मविद्या को संगीत में पिरोते थे। आज आवश्यकता है कि हम डिजिटल शिक्षा के साथ भावनात्मक बुद्धिमत्ता, सांस्कृतिक आत्मबोध और भाषा की आत्मीयता को जोड़ें। यही भारत की संस्कृति की जीवंतता है, यही उसकी युगों-युगों की संपदा है, और यही वह उत्तराधिकार है जो हमें आने वाली पीढ़ियों को सौंपना है गर्व से, श्रद्धा से, और संकल्प के साथ।

*****

द्वारका : राष्ट्र की ऐतिहासिक सांस्कृतिक धरोहर

सुधेन्दु ओझा
वरिष्ठ साहित्यकार

द्वारका का इतिहास भारतीय संस्कृति, धर्म और पुरातत्व के संदर्भ में अत्यंत समृद्ध और रोचक है। यह गुजरात राज्य के देवभूमि द्वारका जिले में गोमती नदी और अरब सागर के तट पर स्थित एक प्राचीन नगर है। हिंदू धर्म में इसे चार धामों में से एक और सप्तपुरियों (सात पवित्र नगरों) में शामिल माना जाता है। द्वारका को भगवान श्रीकृष्ण की कर्मभूमि और उनकी राजधानी के रूप में जाना जाता है। इसका इतिहास पौराणिक कथाओं, ऐतिहासिक संदर्भों और पुरातात्विक खोजों का मिश्रण है।

पौराणिक इतिहास

हिंदू धर्मग्रंथों, विशेष रूप से महाभारत, हरिवंश पुराण और भगवत पुराण के अनुसार, द्वारका को भगवान श्रीकृष्ण ने बसाया था। कथा के अनुसार, श्रीकृष्ण मथुरा में जन्मे और वहां कंस का वध करने के बाद जरासंध के बार-बार हमलों से अपनी प्रजा को बचाने के लिए मथुरा छोड़ दिया। इसके बाद उन्होंने समुद्र से भूमि प्राप्त कर द्वारका नगरी की स्थापना की। कहा जाता है कि इस नगरी को देव शिल्पी विश्वकर्मा ने निर्मित किया था। यह एक समृद्ध, वैभवशाली और उन्नत नगर था, जिसमें विशाल महल, मंदिर, सभा भवन और बंदरगाह थे।

श्रीकृष्ण ने द्वारका से 36 वर्षों तक शासन किया। यहाँ से उन्होंने पांडवों का महाभारत युद्ध में सहयोग किया और देश भर के शासकों को मार्गदर्शन दिया। पौराणिक मान्यता के अनुसार, श्रीकृष्ण की मृत्यु के बाद यह नगरी समुद्र में डूब गई। इसके पीछे दो प्रमुख कथाएँ प्रचलित हैं:

1. गांधारी का श्राप: महाभारत युद्ध में कौरवों के विनाश के बाद गांधारी ने श्रीकृष्ण को श्राप दिया कि जिस तरह उनके कुल का नाश हुआ, वैसे ही कृष्ण के यदुवंश का भी नाश होगा। कहा जाता है कि इस श्राप के कारण यदुवंशियों में आपसी लड़ाई हुई और द्वारका समुद्र में समा गई।

2. ऋषियों का श्राप: एक अन्य कथा में, विश्वामित्र, नारद और कण्व जैसे ऋषियों ने कृष्ण के पुत्र सांब को श्राप दिया था। सांब और कुछ यदुवंशी युवाओं ने ऋषियों के साथ मजाक किया, जिसके परिणामस्वरूप ऋषियों ने कहा कि सांब एक लोहे का मूसल जनेगा, जो यदुवंश के विनाश का कारण बनेगा। यह श्राप भी द्वारका के अंत से जोड़ा जाता है।

ऐतिहासिक और पुरातात्विक संदर्भ द्वारका का उल्लेख केवल पौराणिक ग्रंथों तक सीमित नहीं है; पुरातात्विक खोजों ने इसके ऐतिहासिक अस्तित्व को भी प्रमाणित करने का प्रयास किया है। 20वीं सदी के मध्य से लेकर अब तक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (एएसआई) और अन्य शोधकर्ताओं ने अरब सागर में डूबी एक प्राचीन नगरी के अवशेष खोजे हैं।

समुद्र के नीचे खोज: 1980 के दशक में प्रसिद्ध समुद्री पुरातत्वविद डॉ. एस.आर. राव ने द्वारका के तट से लगभग 130 फीट गहराई में पत्थरों की संरचनाएँ, दीवारें, और अन्य अवशेष पाए। इनमें से कुछ संरचनाएँ 9,000 साल पुरानी मानी गईं, जो इसे विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यताओं में से एक बनाती हैं।

खोजे गए अवशेषों में पत्थर के लंगर, सिक्के, बर्तन और एक सुनियोजित नगर की संरचना के

संकेत मिले। यह माना जाता है कि यह वही द्वारका हो सकती है, जो श्रीकृष्ण के समय की थी और बाद में समुद्र में डूब गई।

विवाद: हालाँकि, कुछ विद्वान इसे पूरी तरह श्रीकृष्ण की द्वारका मानने से इनकार करते हैं और कहते हैं कि यह कोई अन्य प्राचीन तटीय नगर हो सकता है। तारीखों और साक्ष्यों की व्याख्या पर मतभेद बने हुए हैं।

नाम की उत्पत्ति और अन्य नाम

द्वारका का नाम संस्कृत शब्द "द्वार" (दरवाजा) से लिया गया है, जिसका अर्थ है "कई द्वारों वाला शहर"। इसे द्वारावती, कुशस्थली, आनर्तक, और गोमती द्वारका जैसे नामों से भी जाना जाता है। स्कंद पुराण में इसका उल्लेख कुशस्थलीपुरी के रूप में मिलता है, जो इसके प्राचीन इतिहास को दर्शाता है।

आधुनिक द्वारका

आज का द्वारका एक महत्वपूर्ण तीर्थस्थल है, जहाँ द्वारकाधीश मंदिर (जगत मंदिर) स्थित है। यह मंदिर श्रीकृष्ण को समर्पित है और माना जाता है कि इसे उनके प्रपौत्रवज्रनाभ ने बनवाया था। वर्तमान मंदिर का स्वरूप 16वीं शताब्दी में स्थापित हुआ। इसके अलावा, भेंट द्वारका (एक निकटवर्ती द्वीप) भी तीर्थयात्रियों के लिए प्रसिद्ध है।

रहस्य और महत्व

द्वारका का इतिहास सिर्फ एक नगर का नहीं, बल्कि भारतीय सभ्यता के प्राचीन वैभव और आध्यात्मिकता का प्रतीक है। इसका समुद्र में डूबना और फिर से खोजे गए अवशेष इसे एक रहस्यमयी स्थल बनाते हैं। वैज्ञानिक और धार्मिक दृष्टिकोण से यह आज भी शोध का विषय बना हुआ है।

द्वारका का पौराणिक कथानक

द्वारका, जिसे "द्वारवती" या "कुशस्थली" के नाम से भी जाना जाता है, भारतीय पौराणिक कथाओं में एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह नगरी भगवान श्रीकृष्ण से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है, जिन्हें हिंदू धर्म में विष्णु का आठवाँ अवतार माना जाता है। द्वारका का उल्लेख मुख्य रूप से महाभारत, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, और भागवत पुराण जैसे प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। यह नगरी न केवल एक ऐतिहासिक और धार्मिक स्थल के रूप में प्रसिद्ध है, बल्कि यह प्राचीन भारत की समृद्ध सभ्यता और नगर नियोजन का भी प्रतीक मानी जाती है। उत्पत्ति और निर्माण पौराणिक कथाओं के अनुसार, द्वारका की स्थापना स्वयं श्रीकृष्ण ने की थी। महाभारत के अनुसार, मथुरा में अपने चाचा कंस का वध करने के बाद श्रीकृष्ण को अपने यदुवंशियों की सुरक्षा के लिए एक नया आश्रय स्थल चाहिए था। कंस की मृत्यु के बाद, उसके ससुर जरासंध ने मथुरा पर बार-बार आक्रमण किए। इन हमलों से बचने के लिए श्रीकृष्ण ने समुद्र के किनारे एक अभेद्य नगर बसाने का निर्णय लिया। हरिवंश पुराण में वर्णित है कि श्रीकृष्ण ने समुद्र देवता वरुण से प्रार्थना की और उनसे समुद्र के एक हिस्से को खाली करने का अनुरोध किया। वरुण ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और समुद्र ने 12 योजन (लगभग 96 मील) क्षेत्र खाली कर दिया। इसके बाद, विश्वकर्मा, जो देवताओं के शिल्पकार हैं, ने श्रीकृष्ण के निर्देश पर इस स्वर्णिम नगरी का निर्माण किया। यह नगर चारों ओर से समुद्र से घिरा हुआ था और इसमें भव्य महल, मंदिर, उद्यान और बाजार थे।

द्वारका का वैभव

द्वारका को एक समृद्ध और सांस्कृतिक रूप से उन्नत नगरी के रूप में वर्णित किया गया है। यहाँ के निवासी यदुवंशी थे, जिन्हें श्रीकृष्ण ने एकजुट और संगठित किया। भागवत पुराण में द्वारका को "स्वर्ग से भी सुंदर" कहा गया है, जहाँ सोने और रत्नों से जड़े भवन थे। श्रीकृष्ण यहाँ अपनी पत्नियों, विशेष रूप से रुक्मिणी और सत्यभामा, के साथ रहते थे। यह नगरी व्यापार और समुद्री गतिविधियों का भी केंद्र थी, जो

इसे आर्थिक रूप से समृद्ध बनाती थी। यहाँ के लोग श्रीकृष्ण को अपने राजा और संरक्षक के रूप में पूजते थे। महाभारत युद्ध में द्वारका का विशेष उल्लेख नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण ने युद्ध में सीधे हथियार नहीं उठाए थे। हालाँकि, युद्ध के बाद द्वारका उनके जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा बनी रही। युद्ध के पश्चात, जब पांडवों ने हस्तिनापुर पर शासन स्थापित किया, श्रीकृष्ण द्वारका लौट आए। यहाँ उन्होंने अपने वंश का पालन-पोषण किया, लेकिन यदुवंश का अंत भी यहीं से शुरू हुआ। यदुवंश का विनाश और द्वारका का अंत। भागवत पुराण के अनुसार, श्रीकृष्ण के जीवन के अंतिम चरण में यदुवंशियों में आपसी कलह बढ़ गई। एक शाप के कारण, जिसे गांधारी और ऋषियों ने दिया था, यदुवंशी एक-दूसरे के खिलाफ लड़ने लगे। प्रभास क्षेत्र में हुए इस युद्ध में लगभग पूरा यदुवंश नष्ट हो गया। इसके बाद, श्रीकृष्ण ने अपने प्राण त्याग दिए जब एक शिकारी के तीर ने उनके पैर को भेद दिया। उनके देहांत के तुरंत बाद, समुद्र ने द्वारका को अपने आगोश में ले लिया। महाभारत के मौसल पर्व में वर्णित है कि अर्जुन ने द्वारका के अंतिम निवासियों को वहाँ से निकाला, और फिर यह नगरी जलमग्न हो गई। द्वारका का कथानक केवल एक धार्मिक कहानी नहीं है, बल्कि यह समय, परिवर्तन और मानव जीवन की नश्वरता का प्रतीक भी है। पुरातत्वविदों द्वारा समुद्र में मिले अवशेष इस कथा को ऐतिहासिक आधार देने का प्रयास करते हैं। यह माना जाता है कि द्वारका का डूबना समुद्र के बढ़ते जलस्तर या किसी प्राकृतिक आपदा का परिणाम हो सकता है। यह कथानक आज भी भक्तों और इतिहासकारों के लिए प्रेरणा और जिज्ञासा का स्रोत बना हुआ है।

द्वारका की प्राचीनता

द्वारका नगरी की प्राचीनता को लेकर दो दृष्टिकोण हैं: एक पौराणिक और दूसरा पुरातात्विक। इन दोनों के आधार पर इसकी आयु का अनुमान लगाया जाता है।

पौराणिक दृष्टिकोण

पौराणिक ग्रंथों, विशेष रूप से महाभारत, हरिवंश पुराण, और भागवत पुराण के अनुसार, द्वारका की स्थापना भगवान श्रीकृष्ण ने की थी। श्रीकृष्ण का काल त्रेता और द्वापर युग के संधिकाल में माना जाता है। भारतीय परंपरा और कुछ विद्वानों के अनुसार, महाभारत युद्ध की घटना लगभग 3102 ईसा पूर्व हुई थी, जो कलियुग की शुरुआत का समय माना जाता है। यदि इस आधार पर देखें, तो श्रीकृष्ण ने द्वारका को उससे कुछ दशक पहले बसाया होगा, यानी लगभग 3130-3150 ईसा पूर्व। इस हिसाब से द्वारका की प्राचीनता 5100 से 5200 वर्ष (वर्तमान में मार्च 2025 तक) के आसपास हो सकती है। यह अनुमान पौराणिक कालगणना और ज्योतिषीय गणनाओं पर आधारित है, जैसे कि कुरुक्षेत्र युद्ध के समय ग्रहों की स्थिति का उल्लेख।

पुरातात्विक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण

पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर, समुद्र में मिले द्वारका के अवशेषों की आयु का निर्धारण विभिन्न तकनीकों से किया गया है। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ ओशनोग्राफी (एनआईओ) और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (एएसआई) ने 1980 और 1990 के दशक में समुद्र के अंदर खोज शुरू की। यहाँ पाए गए पत्थरों, संरचनाओं और मानव-निर्मित वस्तुओं की कार्बन डेटिंग और अन्य विश्लेषण से संकेत मिलता है कि ये अवशेष 1500 ईसा पूर्व से 2000 ईसा पूर्व के बीच के हो सकते हैं। कुछ शुरुआती अध्ययनों में 3000 ईसा पूर्व तक की तारीखें भी सुझाई गई हैं, जो हड़प्पा सभ्यता के अंतिम चरण से मेल खाती हैं।

हालांकि, कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि ये अवशेष और भी पुराने, यानी 7000-9000 वर्ष (5000-7000 ईसा पूर्व) के हो सकते हैं, जो नवपाषाण युग या उससे पहले के समय से संबंधित हो सकते हैं। यह अनुमान समुद्र तल के बढ़ने के अध्ययन पर आधारित है, जो उस समय बड़े पैमाने पर तटीय क्षेत्रों

को जलमग्न कर रहा था। यदि यह सही है, तो द्वारका 9000 साल से अधिक प्राचीन हो सकती है, लेकिन इसे पौराणिक द्वारका से जोड़ने के लिए और ठोस प्रमाण चाहिए।

पौराणिक आधार पर: द्वारका लगभग 5100-5200 वर्ष पुरानी है (3100 ईसा पूर्व के आसपास)।

पुरातात्विक आधार पर: सामान्यतः 3500-4000 वर्ष (1500-2000 ईसा पूर्व), लेकिन कुछ साक्ष्य 7000-9000 वर्ष तक की ओर इशारा करते हैं।

इन दोनों के बीच अंतर इसलिए है क्योंकि पौराणिक कथाएँ प्रतीकात्मक और ऐतिहासिक मिश्रण हो सकती हैं, जबकि पुरातात्विक साक्ष्य केवल भौतिक अवशेषों पर आधारित हैं। सटीक आयु निर्धारित करने के लिए और अधिक शोध और उन्नत तकनीकों की आवश्यकता है। वर्तमान में, अधिकांश विद्वान इसे 3500-5000 वर्ष प्राचीन मानते हैं, जो इसे प्राचीन भारत की सबसे महत्वपूर्ण नगरीय सभ्यताओं में से एक बनाता है।

शास्त्रों में द्वारका

शास्त्रों में द्वारका का उल्लेख भगवान श्रीकृष्ण के जीवन और उनके द्वारा स्थापित नगर के रूप में अनेक स्थानों पर मिलता है। यह नगरी उनकी राजधानी थी और पौराणिक ग्रंथों में इसे एक समृद्ध, सुरक्षित और दिव्य नगर के रूप में वर्णित किया गया है। द्वारका का उल्लेख मुख्य रूप से श्रीमद्भागवतम, महाभारत, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, और अन्य पुराणों में मिलता है। आइए इसके कुछ प्रमुख उल्लेखों और संदर्भों को विस्तार से देखें:

1. श्रीमद्भागवतम में द्वारका

श्रीमद्भागवतम (दशम स्कंध) में द्वारका को श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित एक भव्य नगरी के रूप में वर्णित किया गया है। यहाँ इसका निर्माण समुद्र से भूमि प्राप्त करके विश्वकर्मा की सहायता से करवाया गया था। यह नगर जरासंध के हमलों से यादवों को बचाने के लिए बनाया गया था।

उद्धरण (श्रीमद्भागवतम, दशम स्कंध, अध्याय 50, श्लोक 54-55):

"स समुद्रात्ततःक्षेत्रंलब्ध्वाद्वारवतींपुरीम्।

निर्ममेविश्वकर्मणासंनादतिमहीतले।।

तत्रगत्वा च यादवाःसुखिनोन्यवसन्पुरीम्।"

(अर्थ: श्रीकृष्ण ने समुद्र से भूमि प्राप्त की और विश्वकर्मा द्वारा द्वारवती नामक नगरी का निर्माण करवाया। वहाँ जाकर यादव सुखपूर्वक रहने लगे।) विवरण: श्रीमद्भागवतम में द्वारका को स्वर्णमयी नगरी कहा गया है, जिसमें सुंदर महल, उद्यान, और जलाशय थे। यहाँ श्रीकृष्ण अपने परिवार और यादवों के साथ रहते थे। इस ग्रंथ में द्वारका की सुंदरता और समृद्धि का बार-बार वर्णन मिलता है।

2. महाभारत में द्वारका

महाभारत में द्वारका का उल्लेख श्रीकृष्ण की राजधानी और उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं के केंद्र के रूप में किया गया है। यहाँ यह भी बताया गया है कि द्वारका समुद्र के किनारे बसी थी और यह यादवों का सुरक्षित ठिकाना थी। महाभारत में पांडवों के दूत के रूप में श्रीकृष्ण से मिलने और युद्ध के संदर्भ में द्वारका का जिक्र आता है।

उद्धरण (महाभारत, सभापर्व, अध्याय 38):

"द्वारकां च पुरींरम्यांसमुद्रस्य च संनिधौ।

निर्मितांविश्वकर्मणायदूनांप्रियकाम्यया।"

(अर्थ: द्वारका एक रमणीय नगरी थी, जो समुद्र के समीप विश्वकर्मा द्वारा निर्मित की गई थी और यदुवंशियों के लिए प्रिय थी।)

संदर्भ: महाभारत के शांतिपर्व और मौसलपर्व में द्वारका के विनाश का भी उल्लेख है। श्रीकृष्ण के देहत्याग के बाद यादवों के आपसी संहार और समुद्र

द्वारा द्वारका के जलमग्न होने की घटना का वर्णन मिलता है।

उद्धरण (महाभारत, मौसलपर्व, अध्याय 7):

"ततःसमुद्रःसंनादन्द्वारकांसंनिमज्जति।

यदूनां च विनाशेनसंनादतिमहीतले।"

(अर्थ: इसके बाद समुद्र ने द्वारका को डुबो दिया, जब यादवों का विनाश हो गया।)

3. हरिवंश पुराण में द्वारका

हरिवंश पुराण श्रीकृष्ण की वंशावली और लीलाओं का विस्तृत वर्णन करता है। इसमें द्वारका को मथुरा छोड़ने के बाद श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित नगर के रूप में बताया गया है। यहाँ इसकी भौगोलिक स्थिति और निर्माण की कथा भी मिलती है।

उद्धरण (हरिवंश पुराण, विष्णुपर्व, अध्याय 97):

"मथुरांत्यक्त्वागोविंदःसौराष्ट्रंप्रययौ तदा।

समुद्रतीरेद्वारकांनिर्ममेयदुभिः सह।"

(अर्थ: मथुरा को छोड़कर गोविंद (श्रीकृष्ण) सौराष्ट्र गए और समुद्र तट पर यादवों के साथ द्वारका का निर्माण किया।)

विवरण: यहाँ द्वारका को एक अभेद्य नगर कहा गया है, जो शत्रुओं से सुरक्षित था। यहाँ श्रीकृष्ण की पत्नियों और संतानों का भी उल्लेख है।

4. विष्णु पुराण में द्वारका

विष्णु पुराण में भी द्वारका का उल्लेख श्रीकृष्ण के निवास और उनकी लीलाओं के स्थान के रूप में मिलता है। यहाँ इसकी स्थापना और इसके वैभव का वर्णन है।

उद्धरण (विष्णु पुराण, पंचम अंश, अध्याय 23):

"द्वारकां च पुरींरम्यांसमुद्रस्य च मध्यतः।

निर्ममेविश्वकर्मणायदूनांहितकाम्यया।"

(अर्थ: श्रीकृष्ण ने विश्वकर्मा द्वारा समुद्र के मध्य में द्वारका नामक रमणीय नगरी का निर्माण करवाया, जो यादवों के हित के लिए थी।)

5. द्वारका की विशेषताएं शास्त्रों में

शास्त्रों में द्वारका को निम्नलिखित विशेषताओं के साथ वर्णित किया गया है:

स्थान: समुद्र तट पर स्थित, संभवतः सौराष्ट्र (आधुनिक गुजरात) में।

निर्माण: विश्वकर्मा द्वारा निर्मित, स्वर्णमयी और अभेद्य।

सुरक्षा: जरासंध जैसे शत्रुओं से यादवों की रक्षा के लिए बनाई गई।

वैभव: सुंदर महल, मंदिर, उद्यान, और बाजारों से युक्त।

अंत: श्रीकृष्ण के देहत्याग के बाद समुद्र में विलीन हो गई।

6. पुरातात्विक और ऐतिहासिक संदर्भ

हालांकि यह शास्त्रीय उल्लेख है, लेकिन आधुनिक पुरातत्वविदों ने गुजरात के तट पर बेट द्वारका और द्वारका के पास समुद्र में डूबी संरचनाओं की खोज की है, जो इन शास्त्रीय वर्णनों से मेल खाती हैं। यह माना जाता है कि यह वही द्वारका हो सकती है, जो शास्त्रों में वर्णित है।

शास्त्रों में द्वारका श्रीकृष्ण के जीवन का एक अभिन्न अंग है, जो उनकी दूरदर्शिता, शक्ति और भक्तों के प्रति प्रेम को दर्शाती है। यह नगरी न केवल एक भौगोलिक स्थान थी, बल्कि एक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक केंद्र भी थी।

द्वारकाधीश शब्द का अर्थ है - द्वारका का शासक या प्रभु। यह शब्द भगवान कृष्ण के लिए प्रयोग किया जाता है, क्योंकि उन्होंने द्वारका का निर्माण किया और यहां अपनी राजधानी स्थापित की थी। द्वारका शब्द का अर्थ है - 'द्वार' का नगर या 'द्वार' से युक्त नगर। यह नगर समुद्र के किनारे स्थित था और कृष्ण ने इसे अपनी राजधानी बनाया था।

'अधीश' का अर्थ है - शासक, प्रभु या स्वामी। इसका मतलब है कि द्वारकाधीश का अर्थ है - द्वारका का प्रभु या शासक। संक्षेप में, द्वारकाधीश शब्द का पूर्ण अर्थ है - भगवान कृष्ण, जिन्होंने द्वारका नगर का निर्माण किया और यहां अपनी राजधानी स्थापित की थी। वे इस नगर के प्रभु या शासक थे।

इस शब्द में कृष्ण के द्वारा स्थापित द्वारका नगर का महत्व और उनकी प्रभुता दोनों ही शामिल हैं। द्वारकाधीश शब्द कृष्ण के साथ गहरी भावनात्मक और धार्मिक संवेदना जोड़ता है।

आज भी द्वारकाधीश के नाम से कृष्ण को पूजा जाता है और यह स्थान उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण केंद्र रहा है। इस प्रकार, द्वारकाधीश शब्द में कृष्ण के साथ द्वारका नगर के प्रभुत्व और महत्व दोनों ही समाहित हैं।

द्वारका का इतिहास भारतीय संस्कृति, धर्म और पुरातत्व के संदर्भ में अत्यंत समृद्ध और रोचक है। यह गुजरात राज्य के देवभूमि द्वारका जिले में गोमती नदी और अरब सागर के तट पर स्थित एक प्राचीन नगर है। हिंदू धर्म में इसे चार धामों में से एक और सप्तपुरियों (सात पवित्र नगरों) में शामिल माना जाता है। द्वारका को भगवान श्रीकृष्ण की कर्मभूमि और उनकी राजधानी के रूप में जाना जाता है। इसका इतिहास पौराणिक कथाओं, ऐतिहासिक संदर्भों और पुरातात्विक खोजों का मिश्रण है।

हिंदू धर्मग्रंथों, विशेष रूप से महाभारत, हरिवंश पुराण और भगवत पुराण के अनुसार, द्वारका को भगवान श्रीकृष्ण ने बसाया था। कथा के अनुसार, श्रीकृष्ण मथुरा में जन्मे और वहां कंस का वध करने के बाद जरासंध के बार-बार हमलों से अपनी प्रजा को बचाने के लिए मथुरा छोड़ दिया। इसके बाद उन्होंने समुद्र से भूमि प्राप्त कर द्वारका नगरी की स्थापना की। कहा जाता है कि इस नगरी को देव शिल्पी विश्वकर्मा ने निर्मित किया था। यह एक समृद्ध, वैभवशाली और उन्नत नगर था, जिसमें विशाल महल, मंदिर, सभा भवन और बंदरगाह थे।

*****

पंढरपुर वारी और इसका सांस्कृतिक महत्व

हरिन्द्र कुमार मक्कड़
मुख्य महाप्रबंधक, बीएसएनएल

भारत, जो अपनी गहरी आध्यात्मिक परंपराओं और सांस्कृतिक विविधता के लिए जाना जाता है, सैकड़ों वर्षों से अनेक धार्मिक प्रथाओं और तीर्थ यात्राओं का पालन करता आया है। इन सबमें सबसे महत्वपूर्ण और अनोखी यात्राओं में से एक है पंढरपुर वारी, जिसे आषाढी वारीया केवलवारी के नाम से भी जाना जाता है। यह तीर्थयात्रा हर वर्ष महाराष्ट्र राज्य में आयोजित होती है और यह भक्ति, परंपरा और सामाजिक समरसता का अद्भुत संगम है। पंढरपूर वारी केवल धार्मिक यात्रा नहीं, बल्कि यह एक ऐसा आंदोलन है जो समानता, विनम्रता, सामुदायिक सेवा और अटूट श्रद्धा जैसे मूल्यों को दर्शाता है। इस लेख में वारी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, यात्रा विवरण, वारकरी (भक्तों) की भूमिका, और भारतीय संस्कृति में इसकी व्यापक महत्ता का विश्लेषण किया गया है।

पंढरपुर वारी का आरंभ लगभग 700 वर्ष पहले की मानी जाती है और इसका गहरा संबंध भक्ति आंदोलन से है, जिसने कर्मकांडों और जातिगत भेदभाव के स्थान पर ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत भक्ति को प्राथमिकता दी गई। वारी के मुख्य आराध्य भगवान विठोबा हैं, जो भगवान कृष्ण या विष्णु के एक रूप माने जाते हैं और जिन्हें महाराष्ट्र के सोलापुर जिले के पंढरपूर नगर में पूजा जाता है। पंढरपुर स्थित मंदिर एक प्रमुख तीर्थस्थल है और वारी का समापन यहाँ आषाढ़ी एकादशी के शुभ अवसर पर होता है, जो हिंदू पंचांग के अनुसार आषाढ़ माह (जून-जुलाई) में आता है।

वारी को भक्ति परंपरा के महान संतों – विशेष रूप से संत ज्ञानेश्वर और संत तुकाराम– ने लोकप्रिय बनाया। इन्होंने ईश्वर भक्ति को कर्मकांडों से ऊपर रखा और प्रेम, समानता और विनम्रता की भावना को फैलाया। वारी की सबसे प्रमुख विशेषता पालखी परंपरा है, जिसें 17वीं शताब्दी में संत तुकाराम के छोटे पुत्र नारायण बाबा ने शुरू किया था। उन्होंने संत के पादुका (पवित्र खड़ाऊ) को पालखी में रखकर देहु से पंढरपुर तक ले जाने की व्यवस्था की, जो आज भी प्रचलन में है।

पंढरपुर वारी के दौरान महाराष्ट्र और आस-पास के राज्यों से हज़ारों डिंडियाँ (भक्तों के समूह) पैदल चलकर पंढरपुर पहुँचती हैं। सबसे प्रमुख पालखियाँ हैं:

- संत ज्ञानेश्वर पालखी – आलंदी से
- संत तुकाराम पालखी – देहु से

यह यात्रा लगभग 250 से 300 किलोमीटर लंबी होती है और इसमें लगभग 21 दिन लगते हैं। यात्री नंगे पाँव चलते हैं, भजन, अभंग (भक्ति गीत) गाते हैं और सामूहिक प्रार्थनाओं व सेवाओं में भाग लेते हैं। यात्रा अत्यंत अनुशासित ढंग से संचालित होती है। प्रत्येक डिंडी का अपना विशिष्ट कार्यक्रम, विश्राम स्थल और प्रबंध होता है। यह पूरी यात्रा भक्ति, अनुशासन और सामाजिक एकता का प्रतीक बन जाती है।

वारकरियों को सम्मानित करते हुए बीएसएनएल के अधिकारी

वारकरी का अर्थ होता है – वारी करने वाला व्यक्ति। वारकरी ही इस यात्रा की आत्मा हैं। वे एक सरल, अनुशासित जीवन जीते हैं जो संतों की शिक्षाओं पर आधारित होता है। उनका दैनिक जीवन भगवान के नाम का जप, भागवत गीता और ज्ञानेश्वरी का अध्ययन, शाकाहार, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करते हुए गुजरता है।

वारकरी अक्सर सफेद धोती-कुर्ता पहनते हैं, गले में तुलसी की माला होती है और साथ में एक छोटा तुलसी का पौधा लेकर चलते हैं जो उनकी भक्ति का प्रतीक होता है। उनकी श्रद्धा अडिग होती है और वारी में भाग लेना उनके लिए आध्यात्मिक कर्तव्य और उत्सव दोनों होता है।

वारी का सबसे अद्भुत पहलू है – सभी लोग एक साथ मिलकर भक्ति में लीन होते हैं। यह समता की भावना भक्ति संतों की विरासत है, जिन्होंने सामाजिक भेदभाव का विरोध किया और सभी को ईश्वर तक समान पहुँच का अधिकारी बताया। वारी महाराष्ट्र की लोक-संस्कृति की जीवंत परंपरा है। भजन, कीर्तन, नृत्य और कविता वारी का अभिन्न हिस्सा हैं। संत तुकाराम और संत ज्ञानेश्वर द्वारा रचित **अभंग** आज भी उत्साहपूर्वक गाए जाते हैं। मृदंग, वीणा, ताल जैसे वाद्ययंत्र इस धरोहर को जीवित रखते हैं।

बोलवा विठ्ठल, पहावा विठ्ठल । करावा विठ्ठल जीवभाव ।।

येणे सोसें मेन जाले हावभरी । परती माघारी घेत नाहीं ।।

बंधनापासनि उकलल्या गांठी । देता आली मिठी सावकाशे ।।

तुका म्हणी देह भारिला विठ्ठलें । कामक्रोधें केलें घर रीतें ।।

अभंग स्थानीय ग्रामवासी तीर्थयात्रियों को भोजन, पानी और विश्राम की सुविधा देते हैं। अनेक सामाजिक संगठन और स्वयंसेवक कैंप, चिकित्सा शिविर और जलपान केंद्र लगाते हैं। निःस्वार्थ सेवा भारतीय संस्कृति की नींव है और वारी उसका जीवंत उदाहरण है। निरंतर पैदल यात्रा, भजन, प्रार्थना और भक्ति वातावरण एक अनूठी ध्यान विधि बन जाती है। यह मानसिक शुद्धि, आत्मिक शांति और जीवन को उद्देश्य प्रदान करता है।

हाल के वर्षों में वारी के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण की पहल भी हो रही है। प्लास्टिक मुक्त यात्रा, स्वच्छता बनाए रखना, वृक्षारोपण और पर्यावरण अनुकूल वस्तुओं का उपयोग बढ़ावा पा रहा है। वारी में न केवल महाराष्ट्र से, बल्कि कर्नाटक, तेलंगाना, मध्य प्रदेश जैसे राज्यों से भी श्रद्धालु शामिल होते हैं।

यह भारत की एकता में विविधता की भावना को मज़बूत करता है।

चंद्रभागा नदी के तट पर स्थित पंढरपुर, आषाढ़ी एकादशी के समय आध्यात्मिक ऊर्जा का केंद्र बन जाता है। लाखों श्रद्धालु विठोबा मंदिर में पूजा करते हैं, भजन गाते हैं और नदी में पवित्र स्नान करते हैं। भगवान विठोबा की मूर्ति, जो दोनों हाथ कमर पर रखे खड़ी मुद्रा में है, भक्तों का स्वागत करने का प्रतीक मानी जाती है।

इस समय विशेष पूजाएं, सामुदायिक भंडारे और सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। "विठ्ठल! विठ्ठल!" के जयघोष से वातावरण गूंज उठता है और भक्तगण ईश्वर के साथ एक गहरा आध्यात्मिक संबंध अनुभव करते हैं।

पंढरपुर वारी भारत की आध्यात्मिक विरासत और भक्ति आंदोलन की जीवंत याद दिलाती है। यह विनम्रता, भक्ति, समानता और सेवा जैसे मूल्यों को मज़बूती से स्थापित करती है। वारी एकजुटता का प्रतीक बनकर ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों को जोड़ती है और सामुदायिक सौहार्द्र को प्रबल करती है।

वर्तमान भौतिकवादी और विभाजनकारी युग में वारी सामूहिक भक्ति और सांस्कृतिक निरंतरता का एक उदाहरण प्रस्तुत करती है। यह परंपरा आत्मिक रूपांतरण और सामाजिक समरसता की शक्ति को दर्शाती है।

पंढरपुर वारी केवल एक धार्मिक यात्रा नहीं, बल्कि यह जीवन, श्रद्धा और साझा मानवता का उत्सव है। यह भारत की आध्यात्मिक परंपराओं की शक्ति को दर्शाती है – जो प्रेरित करती है, एकजुट करती है और उत्थान करती है। जब लाखों वारकरी "विठोबा" का नाम जपते हुए साथ-साथ चलते हैं, तो वे एक ऐसी विरासत को आगे बढ़ाते हैं जो शाश्वत और रूपांतरणकारी है।

वारी का सांस्कृतिक महत्व केवल उसकी रस्मों में नहीं, बल्कि उसमें निहित मूल्यों में है– करुणा, समानता, विनम्रता और अटूट श्रद्धा। यह परंपरा आज भी भारत की आध्यात्मिक चेतना और सामाजिक सौहार्द्र को गहराई से प्रभावित करती है।

इस विरासत को संरक्षित और प्रचारित कर भारत एक ऐसे समाज की कल्पना को साकार करता है जो नैतिक मूल्यों, आपसी सम्मान और भक्ति पर आधारित हो – और यही चित्रण पंढरपुर वारी इतनी सुंदरता और शक्ति के साथ करती है।

*****

लिपिशास्त्र और व्याकरण के आलोक में वैश्विक भाषा विज्ञान

डॉक्टर अनिल कुमार त्रिपाठी,
डी. लिट् (संस्कृत)

यह सर्वविदित है कि भाषा की परिनिष्ठिता व्याकरण के बनावट पर ही निर्भर होती है और व्याकरण की रचना के लिए लिपि-ज्ञान एक आवश्यक बिन्दु है। यहाँ पर यह उल्लेखित करना प्रमाणिक होगा कि विश्व के सभी भाषाविद एक मत से "आचार्य पाणिनी" को विश्व का प्राचीनतम व मूर्धन्य वैयाकरण मानते हैं, जबकि स्वंय पाणिनी ने अपने ग्रन्थ "अष्टाध्यायी" में अपने पूर्ववर्ती व्याकरणाचार्यो में "यास्क" से लेकर उनके काल तक हुए सात आचार्यो के नाम का उल्लेख करते हैं। इसी तरह यास्क ने भी अपने ग्रन्थ "निरुक्त" में अपने से पूर्ववर्ती अठारह व्याकरणाचार्यों के नामों को स्मरण किया है। इनके अतिरिक्त भारतीय अनुश्रुतियों में अद्यतन वैयाकरणों की एक सतत श्रृंखला का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इससे यह संकेत मिलता है कि भाषा-विज्ञान का इतिहास साधारण अनुमान से भी अधिक पुरातन है। स्वभाविक है इसी अनुरुप लिपियों का इतिहास भी उतना ही प्राचीन होगा, जो शनैः शनैः संकेताक्षर, पवित्राक्षर (Hieroglyphic Script), गूढ़ाक्षर (Enciphring script), चित्रात्मक (Pictographic Script), ध्वन्यर्थ-चित्रात्मक लिपि (Logographic Script) के क्रम से व्याकरण शास्त्र की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता के आधार पर ध्वन्यात्मक (Phonetic Script) व वर्णात्मक लिपि (Alphabetic Script) में विकसित होती गई। चित्रलिपि और आक्षरिक लिपि में अन्तर है। चित्रलिपि किसी भाव की अभिव्यक्ति का प्रतीक है, जबकि आक्षरिक वह लेखन प्रणाली है जिसमें प्रत्येक ध्वन्यात्मक अक्षर के लिये एक अलग प्रतीक होता है। वाक् का न्यूनतम खण्ड है "अ–क्षर" जिसे अंग्रेजी में सिलेबल कहते हैं। एक अक्षर में एक स्वर का रहना अनिवार्य है, इसमे एक से अधिक स्वर नहीं रह सकता। किन्तु व्यञ्जनों की संख्या शून्य भी हो सकती है और एक से अधिक भी, जैसे कि "आ", एक अक्षर है और "स्तु" भी एक अक्षर है। किन्तु "आ" में केवल एक वर्ण है जबकि "स्तु" में तीन वर्ण हैं — स् त् उ । अक्षर और वर्ण में अन्तर मैकॉलेवादी कुशिक्षा संस्थानों के पण्डित भी भूल चुके हैं। वर्णमाला में 53 और स्वराघात मिलाकर 64 वर्ण होते हैं किन्तु अक्षरों के मूल होने के कारण इसे अक्षमाला भी कहते हैं, यद्यपि अक्षरों की संख्या लगभग साढ़े चार सौ होती है और विशिष्ट अक्षरों एवं तान्त्रिक चिह्नों को मिलाकर साढ़े सात सौ होती है। सभी भारतीय लिपियों में हर अक्षर के लिए विशिष्ट चिह्न होते थे, किन्तु प्रकाशित समाचारपत्रों ने धातु के टाइपफेसों पर व्यय घटाने के लिए अधिकांश संयुक्ताक्षरों को हटाकर हलन्त से काम चलाना आरम्भ कर दिया जिसका प्रचलन पाठ्यपुस्तकों में भी होने लगा। उदाहरणार्थ, क्+ल को अब क्ल लिखा जाता है किन्तु पहले क में ही नीचे ल जोड़कर लिखते थे और कई बार दोनों को मिश्रित करके तीसरा ही नवीन चिह्न प्रचलित हो जाता था ।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से क्त में जो क् है उसका उच्चारण क्ल के क् से भिन्न है, क्त में क् का उच्चारण आगे की ओर आ जाता है क्योंकि त् आगे दाँत के पास वाला व्यञ्जन है, जबकि क्ल में क् आगे नहीं आता। अतः हर संयुक्ताक्षर विशिष्ट उच्चारण वाला होता है और लिपि में विशिष्ट चिह्न भी होना चाहिए, जबकि हलन्त लगाकर लिखने की परिपाटी में यह विशिष्टता धूमिल हो जाती है। प्राचीन लोग उच्चारण में

अत्यधिक सावधान होते थे, किन्तु आधुनिक कालखण्ड में अपभ्रंशता का ही प्रचलन सर्वत्र दिखता है। इसलिए इसे "म्लेक्षयुग" कहा जा सकता है कारण "म्लेच्छ" का अर्थ ही है जिसकी वाणी अस्पष्ट हो।

आजकल भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सम्पूर्ण अकादमिक समुदाय ही इस दोष से भरा पड़ा है। अकादमिक समुदाय भारतीय लिपियों को इजरायल से जोड़ने पर तुली है जिस कारण किसी भी सही पद्धति को वह तब तक नहीं स्वीकारेगी जबतक अब्राह्मिक असभ्यता का नाश न हो जाय। प्रसिद्ध अमरीकी भाषाविद् विन्फ्रेड लेहमन्न ने लिखा कि ईसापूर्व 1450 वाली माइसीनियन ग्रीक की लीनियर–बी लिपि आक्षरिक होने के कारण ग्रीक के लिए अनुपयुक्त थी। लेहमन्न को पहले से यह पता था कि ग्रीक भारोपीय परिवार की भाषा है, जबकि उनका मनपसन्द अल्फाबेट सेमेटिक परिवार की लिपि है, फिर भी इन तथाकथित विशेषज्ञों को सत्य की बजाय पूर्वाग्रहों से ही लगाव के कारण इस लिपि को प्राग-ऐतिहासिक कह कर सेमेटिक वर्णमाला के आधार पर इसका पुनरावर्तन को सटीक ठहराया गया है। ऐसे ही पूर्वाग्रहों के कारण संसार की सभी प्राचीन संस्कृतियों की लिपियों को ये लोग गलत तरीकों से पढ़ते हैं।

उदाहरणार्थ "माइसीनियन" उच्चारण भी पुनर्जागरण के पश्चात का गलत व्यवहार है जब प्राचीन ग्रीक उच्चारण से अनभिज्ञ पश्चिम यूरोपियनों ने सेमेटिक लिपि के अनुसार ग्रीक और लैटिन का उच्चारण करना आरम्भ कर दिया। प्राचीन युग में "मिचाइनी" अथवा मिकाइनी उच्चारण था। "C" का उच्चारण स्थिर नहीं था क्योंकि सेमेटिक लिपि में "स" और "क" के लिए पृथक चिह्न थे, किन्तु "च" के लिए केवल C था। परन्तु कालान्तर में C का प्रयोग "स" और "क" के लिए भी होने लगा। साम्राज्यवादी काल के रोमन अभिजात्य वर्ग ने नया नियम बनाया कि C के पश्चात e i y हो तो 'स' उच्चारण होगा और a o u हो तो 'क' उच्चारण होगा। इस प्रकार 'च' उच्चारण का लोप कर दिया गया। इस प्रकार संस्कृत "केशर" से बना 'Caesar' (कैसर) शब्द को उत्तरवर्ती लैटिन में 'सीजर' कहा जाने लगा, यद्यपि सीजर को तत्कालीन ग्रीक में kaisar ही लिखते थे, जिस कारण लैटिन में भी वास्तविक उच्चारण कैसर ही था। "सीजर" उच्चारण पुनर्जागरण के पश्चात आधुनिक युग का है।

जो यूरोप अपनी भाषाओं का सही उच्चारण नहीं कर सकता वह प्राचीन मिस्र, सुमेर, माया, भारत, चीन आदि की भाषाओं का सही उच्चारण क्यों करेगा? दुःख तो इस बात का है कि यूरोप के तथाकथित विद्वानों को भी अन्य संस्कृतियों के उच्चारणों को बिगाड़ने में ही आनन्द आता है। चीन को चीनी में चीन कहते हैं, चाइना नहीं। रूस को रूसी में रूस कहते हैं, रसिया नहीं।

मैक्स मूलर के युग से लेकर आजतक पश्चिम की यही मान्यता है कि संसार की सर्वश्रेष्ठ लिपि सेमेटिक वर्णमाला ही है, जबकि यूनीकोड में भी रोमन लिपि को ही आधार माना गया। सच्चाई यह है कि संसार की सभी लिपियों में सेमेटिक वर्णमाला ही सबसे घटिया और अवैज्ञानिक हैं जो संसार की किसी भी भाषा को सही तरीके से लिपिबद्ध करने में अक्षम है। सेमेटिक वर्णमाला में स्वर तो लिखे ही नहीं जाते थे। तथाकथित "ऐतिहासिक" काल के ग्रीक एवं लैटिन में जब सेमेटिक वर्णमाला का प्रचलन हुआ तो पाँच स्वर a e i o u माने गये। आज भी अंग्रेजी में यही हाल है, यद्यपि अंग्रेजी भाषा में 12 स्वर हैं जिनमें 7 के लिए उनकी रोमन लिपि में कोई चिह्न ही नहीं है। फिर भी कूपमण्डूक की तरह अपनी गलत लिपि को सर्वोत्तम कहते हैं और ब्राह्मी से लेकर देवनागरी तक की वैज्ञानिक लिपियों को सेमेटिक से निःसृत बताने का पाखण्ड करते हुये इन सभी को "भारोपीय परिवार" में सम्मलित करने का कुचक्र रचते हैं। यही नहीं बल्कि मैक्समूलर से लेकर लेहमन्न तक की पीढ़ी में गहरा नस्लवादी पूर्वाग्रह था, जिसमें यह मान्यता थी कि

सेमेटिक और भारोपीय दोनों का उत्कृष्टतम रूप यूरोपीय सभ्यता में ही विकसित हुआ।

बाइबिल पुरातत्व और सेमेटिक भाषा शास्त्र के द्वारा विश्व की सभी लिपियों और भाषाओं का "मेसोपोटामिया से निकला हुआ" बताने का प्रयास हुआ। भारत, चीन, अफ्रीका जैसी सभ्यताओं के लिपिविज्ञान की उपेक्षा की गयी। इन क्षेत्रों की आक्षरिक और चित्राक्षरिक लिपियों को "निरक्षर" या "आद्य लिपि" कहकर नकारात्मक ढंग से वर्गीकृत किया गया, जबकि ऐतिहासिक रूप से ये अधिक परिष्कृत और प्राचीन थीं। ग्रीक की आक्षरिक लीनीयर बी स्वयं एक सफल लेखन प्रणाली थी, जिसने "माइसीनियन" जैसे जटिल व्याकरण वाली भाषा को दीर्घकाल तक सम्भाला। जापानी कण प्रणाली आज भी उच्च तकनीकी और साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती है, जबकि वह शुद्ध आक्षरिक है। ब्राह्मी और देवनागरी लिपियाँ आज भी विश्व की सबसे वैज्ञानिक और शुद्ध ध्वन्यात्मक लिपि मानी जाती हैं और यह बात यूनेस्को जैसे संगठनों ने भी मानी है। सर्वाधिक वैज्ञानिक और शुद्ध वर्णात्मक व स्वनिमीय का अर्थ है लिपि और उच्चारण में मेल। जब तक इन पूर्वाग्रही ढाँचों को नष्ट नहीं किया जाता, तब तक न तो प्राचीन लिपियाँ ठीक से समझी जाएगी और न ही संस्कृतियों की सही उत्पत्ति और सभ्यताओं का वास्तविक स्वरूप सामने आ पाएगा।

भारत की लिपियों में 500 संयुक्ताक्षर के लिए अलग-अलग विशिष्ट लिप्यात्मक चिह्न विकसित हुए, जो ऐतिहासिक रूप से सिद्ध व विशुद्ध सटीक हैं, पर प्रायः उपेक्षित है। ब्राह्मी में क्य क्त क्र क्ल को क्रमशः लिखते थे और देवनागरी सहित सभी भारतीय लिपियों में भी अंग्रेजों के आगमन से पहले इसी प्रकार संयुक्ताक्षर लिखे जाते थे। सिन्धु–सरस्वती घाटी की प्राचीन लिपि में 1800 सील (मुद्रायें) मिले हैं जिनमें अभी तक 450 चिह्न पाये गये हैं। सिन्धुलिपि एक पूर्ण रूप से विकसित, संयुग्मक लिपि थी न कि किसी आरम्भिक चित्रलिपि व बाह्य प्रेरित सङ्केतन। आश्चर्य की बात है कि ब्राह्मी आदि समस्त भारतीय लिपियों में भी इतने ही विशिष्ट अक्षर हैं, फिर भी आज तक एक भी शोधकर्ता का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया। ब्राह्मी लिपि में भी हर संयोजन (ज्ञ, त्र, क्ष, श्र, ट्य, ग्न...) के लिए अलग चिह्न बने हुये हैं। ठीक उसी प्रकार जैसा कि सिन्धुलिपि में दिखता है। यदि लिप्यात्मक विभिन्नताओं को संयुक्ताक्षरों के रूप में वर्गीकृत किया जाए तो सिन्धुलिपि से ब्राह्मी तक के संक्रमण का पुनर्निर्माण सम्भव है। यह आक्षरिक वा शब्दाक्षरिक व्यवस्था थी, न कि वर्णमाला या आद्य लिपी। यदि हरप्पा की लिपि में केवल 40-60 लिप्यात्मक चिन्ह होते, तो हम उसे वर्णमाला कह सकते थे जैसे कि फोनेशियन, ग्रीक, लैटिन आदि में होता है। किन्तु 450 लिप्यात्मक चिन्ह होना इस बात का प्रमाण है कि हर लिप्यात्मक चिन्ह एक विशिष्ट अक्षर के मान या संयुक्ताक्षर को दर्शाता था, न कि मात्र एक स्वनिमीय वर्ण को।

बहुत कम लोग यह समझते हैं कि देवनागरी में कोई "मूल 47" वर्णमाला नहीं है, इसकी वास्तविक लिप्यात्मक संख्या लगभग पाँच सौ है। ध्वन्यात्मक रूप से हरप्पा की भी लिपि 450 लिप्यात्मक चिन्ह के साथ पूरी भाषा को व्यक्त करने के लिए पूर्णतः सक्षम थी। देवनागरी की जटिल संयुक्ताक्षरात्मक अभिरचना को ऐतिहासिक रूप से हरप्पा लिपि एवं उससे भी पूर्व के वैदिक उद्भव से जोड़ा जा सकता है। यह भारत की पारम्परिक लिपियों के विकास की विलुप्त कड़ी है, न कि किसी बाह्य प्रभाव का उत्पाद। सभी बौद्ध त्रिपिटकों में सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) द्वारा 64 लिपियाँ सीखने का उल्लेख है, जिनमें देवनागरी का भी उल्लेख है। किन्तु आधुनिक "विद्वानों" द्वारा उसे "देव" और "नागरी" की लुप्त लिपियाँ कहकर अनदेखा कर दिया जाता है। लेहमन्न, परपोला तथा अन्य पश्चिमी भाषाविदों ने भी इसे न समझने की दुर्बुद्धि की या फिर जानबूझकर उसे आद्य लिखावट की प्रतिकात्मक व्यवस्था कहकर इसकी गरिमा को छोटा करने की

चेष्टा की। हमें सिन्धुलिपि व हरप्पा लिपि को स्वदेशी प्रणाली मानकर समझने की आवश्यकता है।

मिस्र की लिपि भी आक्षरिक धन प्रतीकात्मक थी, न कि वर्ण आधारित। धार्मिक, ज्योतिषीय और राजनैतिक शब्दों के लिए अतिरिक्त प्रतीकों का उपयोग था— जो भारत में भी मिलता है (जैसे ॐ, स्वास्तिक, ह्रीं, क्लीं आदि)। उनको मिलाकर लगभग 750 चिह्न थे। चित्रलिपि का भी प्रचलन था। किन्तु मिस्र की भाषा में व्याकरण बिल्कुल नही था। डायोनिसियस थ्रैक्स (170-90 ई पू) जो कि एक यूनानी व्याकरणविद व समोथ्रेस के शिष्य थे, को पारम्परिक रुप से ग्रीक के पहले अस्थैतिक व्याकरण "तेखने ग्रामेटिक" (तेखने व्याकरणिके) के लेखक होने का श्रेय दिया जाता है। इनका व्याकरणिक ढ़ाचा मूल रुप से लैटिन से प्रभावित रहा जिसके नियम बहुत स्तरीय नहीं थे।

यह नहीं, बल्कि विश्व की सभी प्राचीन लिपियाँ आक्षरिक ही रही थीं यथा - ब्राह्मी, संस्कृत व तमिल ब्राह्मी आक्षरिक व संयुक्ताक्षर वाली भाषा रही जिसमें 450 चिन्ह थे, सिन्धुलिपि आक्षरिक थी जिसमें 450 चिन्ह थे, हित्ती व मायान आक्षरिक रही जिसमें 500 चिन्ह थे तथा सुमेरियन, अक्कादियन व मिस्र आक्षरिक व प्रतीकात्मक थीं जिसमें 600 से लेकर 750 चिन्ह हुआ करते थे। यह सभी भाषायें उच्चारण, भाषिक अभिव्यक्ति व वाक्य निर्माण की पूर्णता से परिपूर्ण रही। पूर्ण भाषिक अभिव्यक्ति की क्षमता होने के उपरान्त भी मिस्र एवं अन्य प्राचीन संस्कृतियों को यह कहकर प्रागैतिहास में डाला जाता है कि उनको ठीक से, अर्थात् सेमेटिक वर्णमाला में, लिखना नहीं आता था।

पश्चिमी भाषा विज्ञान में जब कोई लिपि शब्दांश (सिलेविक) धन भाव चित्रात्मक प्रतीक (आइडिओग्राम) धन धार्मिक प्रतीक धन वर्गीकरण कर्ता सब रखती है, तब वे उसे "वर्ण-संकर लिपि" (हाइब्रिड स्क्रिप्ट) कहा जाता है, क्योंकि उनके पास इसकी व्याख्या के लिए कोई वैध सिद्धान्त नहीं है। परन्तु सच्चाई यह है कि यह कोई हाईब्रिड नहीं है, बल्कि बहुस्तरीय पूर्ण विकसित लेखन प्रणाली है जिसमें चित्रलिपि (पिक्टोग्राफी) और लिपि स्पष्टतः भिन्न स्तरों पर कार्य करते हैं। पिक्टोग्राफी वस्तुतः लिपि नहीं है, बल्कि लोककला का वह सरलीकृत रूप है जो सामुदायिक स्थिरीकृत अर्थों को व्यक्त करता है। पिक्टोग्राफ (चित्र) केवल विचार/वस्तु का संकेत है — अ-ध्वन्यात्मक, जैसे कि सूर्य, बैल, नर्तकी आदि व चित्रात्मक चिन्ह यथा देवताओं के प्रतीक, प्रतीकात्मक पशु, राजकीय संकेत जिनका प्रयोग विशेषकर अनुष्ठान, राजाज्ञा, धार्मिक ग्रन्थों में होता था। जबकि लिपि (स्क्रिप्ट) ध्वन्यात्मक भाषा का लेखन है जिसमें अक्षर, शब्द, पद होते हैं। दोनों में वही अन्तर है जो पश्यन्ती और बैखरी में है। मिस्र की लिपि (तथाकथित Hieroglyphs यानि चित्रलिपि) के लिपि व चित्र की दो अलग प्रणालियों को गलत तरीके से एक ही मानने की अज्ञानता-जनित साम्राज्यवादी अवमानना के कारण ही पश्चिमी भाषाविदों ने इसे प्राचीन व अविकसित वर्ण-संकर लिपि के श्रेणी में डाल दिया, जबकि यह दोनों अलग अस्तित्व रखते थे और यह लेखन की बहुस्तरीय भाषिक प्रणाली रही थी।

भारत में लिपियाँ भी थीं और चिह्नात्मक प्रतीक पद्धति भी (उदाहरणार्थ, यन्त्र, मण्डल, बीजमन्त्र)। पर दोनों के प्रयोग-क्षेत्र और व्याकरण पूर्णतः अलग थे। भारत ने कभी चित्रात्मक चिन्ह को लिपि नहीं कहा, लेकिन पश्चिम भाषाविद अपने सम्प्रदायवादी वर्चस्व को विधायी स्वीकार्यता दिलाने के लिए वस्तुस्थिति को नकारते गए।

लैटिन, इंडो-यूरोपीय भाषाओं की इटैलिक शाखा से संबंधित एक ऐसी भाषा थी जो पुरानी लैटिन (75 ई पू तक), शास्त्रीय लैटिन (75 ई पू से तीसरी शताब्दी तक), परिवर्तित लैटिन (तीसरी शताब्दी से पाँचवी शताब्दी तक), मध्ययुगीन लैटिन (पाँचवी

शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक) व नव लैटिन (सत्रहवी शताब्दी तक) के क्रम से उभर कर कालान्तर में फ्रेंच, इटालियन, स्पैनिश, पुर्तगाली, रोमानियन आदि भाषाओं में परिवर्तित हो गयी। वस्तुतः लैटिन एक विभक्त भाषा रही, जो कि केवल कंठस्थ करने की विधा थी न कि संगणनातमक संरचना। लैटिन व्याकरण की रचना मार्कस वारो, डोनट्स मैग्नस व प्रिसिअनस सीज़ेरियन्सिस नामक रोमनो ने शासकों व पादरियों के लिये की थी, जिसे कालान्तर में कैथोलिक चर्च ने सिद्ध व पवित्र घोषित कर अन्य स्थानीय भाषाओं को दासत्व की भाषा की श्रेणी डाल कर अपमानित करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार ग्रीक व लैटिन व्याकरण असल में सत्ता और वर्ग-मान्यता की संरचना थी जिसे भाषायी अभिजात्यवाद (लिंगविस्टिक इलीटिज़्म) की मानसिकता के मद में मानक भाषा का आवरण पहना कर जनता पर थोप दिया गया।

जहाँ तक हिब्रू व्याकरण का प्रश्न है, तो इसका कोई प्रमाण हजारवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं मिलता है। यह बात आधुनिक भाषाविज्ञान की सबसे असहज सच्चाई है, जिसे जानबूझ कर छिपाया गया ताकि हिब्रू की तथाकथित प्राचीनता पर कोई आघात न पहुँचे। आदिम यहूदी व्याकरणाचार्य स़ादिया ग़ाओन (882-942 ई), यहूदा बेन डेविड हयुज (945-1000 ई) व जोना इब्न ज़नाह (900-1055 ई) क्रमशः अब्बासिद़ खलीफ़ात के आधिपत्य वाले बग़दाद, क़ायरावन व स्पेन से संबंधित होने के कारण इस्लामी वातावरण में ही पले बढ़े थे। यही कारण रहा कि हिब्रू व्याकरण की नींव अरबी व्याकरण के त्रिव्यंञ्जनक धातु के अनुकरण पर ही स्थापित हुई, जिसका एक ही उद्देश्य रहा था की किसी भी तरह इस्लामिक ग्रन्थ "कुरान" की भांति यहूदी धर्म के पवित्र ग्रन्थ "तनाख़", जिसे "हिब्रू बाईबिल" भी कहा जाता है जो तोरा, नेबी'इम और केतुविम के तीन भागों में बंटा है, की भाषिक महत्ता को स्थायित्व दिया जा सके। जबकि मूल हिब्रू त्रिव्यञ्जन प्रतिरूप (पैटर्न) की तरह व्यवहार नहीं करते थे, फिर भी नयी संरचना के बाद में सभी को नये साँचे में ढ़ाल दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि यह परिवर्तन हिब्रू की ऐतिहासिक भाषाविज्ञान को सम्पूर्णतः विकृत कर दिया। वास्तव में मासोरेटिक विद्वानों को हिब्रू बाईबिल के पाठ को संरक्षित कर इसका मानकीकरण करने के लिए ही व्याकरण बनाना पड़ा था, क्योंकि प्राचीन हिब्रू अपनी भाषिक परम्परा खो चुकी थी। हिब्रू भाषा में कुल 22 व्यञ्जन है, परन्तु बाद में स्वरों को दर्शाने के लिये पाँच विशेष चिन्हों को सातवीं से लेकर दसवीं शताब्दी के मध्य जोड़ा गया जिन्हें "निकुद" कहा जाता है।

अरबी मूलतः एक सेमेटिक भाषा है और इसके व्याकरण में अन्य सेमेटिक भाषाओं के व्याकरण के साथ कई समानताएँ हैं। अरबी व्याकरण का खुद का इतिहास सातवीं शताब्दी में इस्लाम के उदय के पश्चात शुरु होता है, अर्थात कुरान के नाज़िल होने उपरान्त ही इसका क्रमिक विकास हुआ। खलीफ़ा अली के शागिर्द रहे अबू-अल-अस़वद अल-दुआली नें 600के दशक के मध्य अरबी के लिए विशेषक चिन्ह व स्वरों का इज़ाद किया, जबकि इब्न अबी इशक (मृत्यु 735 ई/ 117 हिजरी) ने पहला अरबी व्याकरण बनाया। आठवीं शताब्दी के अंत में इस्लाम के तेजी से फैलने के साथ इसके व्याकरणों के नियमों को "कुरान" को अव्वल मज़हबी मान्यता दिलाने के उद्देश्य से पुनर्निर्धारित किया गया। अरबी व्याकरण का पुनर्निर्धारण व त्रिव्यञ्जन माडल का श्रेय फारसी सिबुयेह (760 ई सै 796 ई), जिन्हें अरबी में सिबावैह के नाम से जाना गया को जाता है। इनका पूरा नाम अबू बिश्र अम्र इब्न उस्मान इब्न क़ान अल-बसरी था। "अल-किताब" नाम से की गई इनकी रचना को अरबी व्याकरण की तीसरी पुस्तक के नाम से जाना जाता है। इस किताब ने कुरान व हदीस की व्याख्या के लिये एक महत्वपूर्ण आधार प्रदान किया। परन्तु इसका स्वरविहिन त्रिव्यञ्जनात्मक मॉडल कृत्रिम व ध्वन्यात्मक रुप से प्राकृतिक नहीं है। अरबी वर्णमाला में कुल 28 व्यञ्जन व दो अर्ध-स्वर होते हैं।

यहूदियों की भाषा के रुप में हिब्रू मात्र इजरायल तक ही सीमित रही, जबकि आठवीं शताब्दी में अरब की लिपि "कूफी" व "नस्खी" के दो स्वरुपों में बँटकर पूरे मध्य-पूर्व (अरब, इराक, ईरान, सीरिया) व मिस्र, अल्जीरिया तथा उत्तरी अफ्रीका के क्षेत्रों में फैल गई। अरबी भाषा को बोली के क्रम से पाँच अलग प्रकार विभाजित कर देखा जा सकता है:-

1- निरक्षर बोली जाने वाली अरबी = अम्मीयत उल-उम्मियिन,

2- अर्ध-साक्षर बोली जाने वाली अरबी = अम्मियत अल-मुतनाव्विरिन,

3- शिक्षित बोली जाने वाली अरबी = अम्मियत अल-मुतहक्काफिन,

4- आधुनिक मानक अरबी = फूषा ई-असर,

5- शास्त्रीय अरबी = फूषा टी-तुराथ

इसी प्रकार सेमेटिक लेखन प्रणाली भी वस्तुतः linguistic regression (भाषाई प्रतिगमन अर्थात मूल भाषा के स्वरुपों में अधिनायकवादी वर्चस्व के लिए अस्थाई या दीर्घकालिक प्रत्यावर्तन करना) ही थी। धृष्टतापूर्ण किया गया यह बनावटीपन न केवल भाषा का सटीक लेखन असम्भव बनाता है, बल्कि प्रभावित भाषाओं के इतिहास को भी मिटा देता है (जैसे हिब्रू-YHWH-अस्वरित का उदाहरण, जो बाद में जहोबा/यहूव बन गया)। वस्तुतः सेमिटिक वर्णमाला स्वर रहित 22 व्यञ्जनों मात्र पर आधारित थी। यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि कोई भी प्राकृतिक भाषा स्वरों से रहित नहीं हो सकती है।कालान्तर में भाषायी दृष्टि से स्वरविहिन, प्रत्ययविहिन, व सन्धिविच्छेदविहिन दोषों से पूर्ण इसी फोनेशियन लिपि से आधुनिक हिब्रू/मिस्र, लैटिन, अरबी व आरमेनियन की वर्णमालाओं का स्वरुप उभर कर सामने आया और जब यह मॉडल यूरोपीय भाषाओं पर थोपा गया तो उसने वहाँ की मूल भाषाओं को विकृत करने के साथ ही उनके इतिहास को भी मिटा दिया।

वस्तुतः सेमिटिक लिपि फीनीशियन व्यापारियों द्वारा उनके सीमित व्यापारिक बही-खाते के त्वरित सङ्केतन को आपसी सम्प्रेषण के उद्देश्यों को सरलीकरण के लिए डिज़ाइन किया गया था, न कि भाषाई निष्ठा के लिए। परन्तु निहित स्वार्थ की पूर्ति के लिए इस बनावटी लेखन प्रणाली को प्राकृतिक रूप से विकसित प्रणाली के रूप में प्रस्तुत किया गया जो एक प्रकार का भाषिक धोखा था। इस प्रकार एक खोई हुई भाषा को नकली लिपि और नकली व्याकरण के बल पर पुनर्जीवित किया गया और फिर उसे "प्राचीनतम सेमिटिक भाषा" के रूप में प्रस्तुत कर राजनीतिक और धार्मिक वैधता प्रदान की गई।

यूनानी भाषा में सेमेटिक (सामी) भाषा के अलेफ, बेथ, गमेल, और दामेथ के समानार्थी अल्फा, बेटा, गामा, डेल्टा आदि शब्द हैं। यूनानी (ग्रीक) भाषा के इन्हीं प्रारम्भिक वर्णो (अल्फा व बेटा) के आधार पर यूरोप की भाषाओं में वर्णमाला के लिए "अल्फाबेट" शब्द प्रयुक्त होने लगा। कालान्तर में यूनानियों ने अपनी भाषा की व्यवहारिकता के अनुरुप सेमेटिक की 22 ध्वनियों में से चार ध्वनि-चिन्हों को हटाकर स्वर उच्चारण के लिये छह नये चिन्हों को सम्मलित कर इसे 24 वर्णो (स्वर व व्यञ्जन) वाली एक नयी लिपि का व्यवस्थित रुप दे दिया। इधर भूमध्यसागर के उत्तरी तटो पर रहने वाले 'एट्रुस्कनों" ने अपनी भाषा "एट्रिक" के लिये ग्रीक अल्फाबेट के मूल 22 वर्णो में चार नए वर्णो को जोड़ कर ई पू आठवीं शताब्दी में 26 अल्फाबेट वाली एक नई लिपि का विकास किया। इसी प्रकार स्लाविक भाषा-भाषियों नें ग्रीक अल्फाबेट के सहयोग से 42 अक्षरोंवाली "सिरिलिक" का आविष्कार किया, जिसके गर्भ से रशियन, उक्रेनियन, बल्गेरियन व शर्व लोगों के लिए 32 अल्फाबेट वाली वर्तमान रुसी लिपि व 30 अल्फावेट वाली बल्गेरियन लिपि का विकास हुआ। इसी के साथ यूरोप के अन्य स्थानों पर। शनैः शनैः एट्रुस्कन की इसी परिवर्तित लिपि से ही आब्रिअन, रूनी, ओस्कन आदि लिपियों का अस्तित्व उभर कर सामने आता गया। रोमनो द्वारा

ई पू सातवीं शताब्दी के लगभग एट्रुस्कन लिपि से लिए गए 21 अल्फाबेट (A, B, C, D, E, F, G, H, I, K, L, M, N, O, P, Q, R, S, T, V, X) में अपनी ध्वनियों के अनुरुप Y व Z तथा फिर J, U व W को जोड़ कर 26 अल्फाबेट वाली जिस लिपि को प्रसूत किया, उसे ही लैटिन या रोमन लिपि के नाम से जाना गया। आरम्भिक काल में यह दायें से बायें ओर लिखी जाती थी, किन्तु बाद में इसकी शैली को परिवर्तित कर बायें से दायें क्रम से लिखना प्रारम्भ किया गया। रोमन वर्चस्व के बढ़ते प्रभावों के कारण अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी, इटली, पोर्तुगीज, रोमानियन, जर्मनी आदि भाषाओं के लिए तथा चेक, पोलिस, टर्की तथा कुछ स्लाविक व अफ्रीकी भाषाओं ने अपनी लिपि के रुप में इसे स्वीकार कर लिया।

अंग्रेजी एक पश्चिमी जार्मनिक भाषा है, जिसकी उत्पति "इंग्वाओनिक" भाषाओं से से हुई थी जिसे 5 वीं से 7 वीं शताब्दी के मध्य में एंग्लो-सैक्सन प्रवासियों द्वारा ब्रिटेन में लाई गई थी। इससे पूर्व ब्रिटेन में सेल्टिक (Keltic) भाषा बोली जाती रही, जो ब्रिटेन के मूल निवासियों अर्थात "सेल्टिक-ड्रुइड" की भाषा रही थी। "केल्टी-हिंदू-लिंक" नामक पुस्तक (पृष्ठ संख्या-16) की लेखिका डोरोथी चैपलिन के अनुसार "प्राचीन यूरोप के सेल्टिक समाज पर पूर्व से आये 'ड्रुइड' नामक पुरोहितों का व्यापक असर पड़ा था"। जबकि आंग्ल विश्वकोष में यह प्रमाणिक रुप से उल्लेखित है कि "सेस्टिक ड्रुइड" भारतीय ब्राह्मणो के "पंचद्राविड़" शाखा के ही पश्चिमी संस्करण रहे थे"। लेकिन अधिकांश मूल निवासियों को एंग्लो-सैक्सन आक्रमणकारियों ने पश्चिम और उत्तर की ओर खदेड़ दिया और वे सब आज के वेल्स, स्काटलैंड व कॉर्नवाल में जा कर बस गये। सैक्सन लोग मूल ब्रिटिश लोगों को 'वीलास' कहते थे, जिसका आशय 'विदेशी' होता था। इसीसे आधुनिक शब्द "वेल्स" बना। रोमन सम्राट जूलियस सीज़र द्वारा ई पू 55 में ब्रिटेन पर कब्जा करने के बाद एंग्लो-सैक्सन लोग, जिन्हें अधिकारिक रुप से एंगल्स, सैक्सन, व जूट जनजातीयों के रुप से जाना जाता है, मूलतः उत्तर-पश्चिमी जर्मनी, दक्षिणी डेनमार्क व नीदरलैण्ड के निवासी थे, जो रोमन आधिपत्य की व्यवस्थाओं के ढ़ह जाने के बाद ब्रिटेन में 5 वीं से शताब्दी में जाकर स्थाई तौर से बस गये। एंगल्स लोगों के वर्चस्व के कारण इनके क्षेत्र विशेष को "इंग्लैण्ड" (England) व इनकी भाषा को "इंग्लिश" कहा जाने लगा, जिसे "ओल्ड इंग्लिश" के रुप में भी जाना जाता है। यह मुख्यतः चार बोलियों में विभाजित थी - एंग्लियन बोलियाँ (मर्सियन व नार्थम्ब्रियन) तथा सैक्सन बोलियाँ (कैटिश व वेस्ट सैक्सन) ।597 ई में जब एंग्लो-सैक्सन ईसाई बने, तो उन्होनें लैटिन सीखी व तदानुरुप इन्होनें लैटिन लिपि को अपना लिया। 1066 ई में "विलियम द कॉन्कर्रर" के नेतृत्व में फ्रेंच-नार्मन द्वारा इंग्लैंड पर आधिपत्य किये जाने के बाद पुरानी अंग्रेजी के स्थान पर फ्रेंच मिश्रित "एंग्लो-नार्मन फ्रेंच" भाषा का वर्चस्व उभरा, जिसे उच्च वर्गो की भाषा कहा गया। यही कारण रहा कि कुछ फ्रेंच शब्द यथा बैगूएट (लम्बी, पतली रोटी), बैले (एक प्रकार का फ्रांसीसी नृत्य), कैफ़े (जहाँ काफी व नास्ता परोसा जाय) तथा स्पेनिश एलीगेटर, बरिटो, कोयोट आदि ओल्ड इंग्लिश में रुढ़ हो गये। चूँकि यह भाषा "एंग्लो-नार्मन" का नूतन संस्करण रहा, इसीलिये इसे "मध्य अंग्रेजी" के रुप से जाना गया। इस अंग्रेजी में सबसे अधिक प्रयोग होने वाले लगभग आधे शब्द जैसे एक्सोड (पूछा गया), हब्बा (है), एंग्ला (फ़रिश्ते), हू (कैसे), रिहटलिस (सही ढंग से), हेओफ़ोनम (स्वर्ग) आदि पुरानी अंग्रेजी से ही आये थे, जो लगभग 1100 ई तक बोली जाती रही थी। आजकल के अंग्रेजी भाषियों को पुरानी अंग्रेजी समझने में बहुत मुश्किल होती है।इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजी भाषा रोमन, जार्मनिक, स्पेनिश व ईसाई प्रभावो के मिश्रण से अस्तित्व में आयी। पहले रोमन, फिर एंग्लस व तदन्तर फ्रेंच आधिपत्य की अपनी ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि की मानसिकता के चलते अंग्रेजी विद्वानों नें भारत में 1500 ई पू यूरोपीय क्षेत्र से आए आर्यो के विस्थापन की मनगढ़ंत कहानी को

अमलीजामा पहनाने का प्रयास किया, जो अब तथ्यों के आधार पर प्रायः ध्वस्त हो रहा है। मध्य अंग्रेजी में लगभग 1400 ई के पश्चात हुये स्वर परिवर्तन, विभक्ति सरलीकरण और भाषायी मानकीकरण जैसे सुधारों के परिणाम स्वरुप 1500 से 1700 ई तक की भाषा के इस नूतन प्रारुप को "प्रारम्भिक आधुनिक अंग्रेजी" के नाम से जाना गया।

अंग्रेजी विद्वानों को 1760 की अद्यौगिक क्रान्ति व विज्ञान व तकनीकि तथा अन्तराष्ट्रीय वाणिज्य प्रबन्धन में उत्तरोत्तर प्रगति के मद्देनज़र नूतन शब्दावलियों को गढ़ने की आवश्यकता का भान हुआ और तदनुसार ग्रीक व लैटिन के कुछ शब्दों यथा न्यूक्लियर, ऑक्सीजन, वैक्सीन, प्रोटीन आदि जोड़ने के साथ सैन्य शब्दों यथा लैडिंग स्ट्रीप, कैमोफ्लेज, ब्लॉकबस्टर आदि के साथ अद्यौगिक तथा वाणिज्यिक शब्दों व अन्य देशों की बोलियों को भी समावेशित किया गया। इस प्रकार यह देखा जा सकता है वैश्विक आवश्यकतानुसार आधुनिक अंग्रेजी में तुलनात्मक दृष्टि से शब्दावलियों की संख्या में बढ़ोत्तरी की गई। अंग्रेजी भाषा रोमन लिपि में लिखी जाती है, जिसे लैटिन लिपि भी कहा जाता है। अंग्रेजी अल्फाबेट (वर्णमाला) में A से Z तक कुल 26 अक्षर है, जिसमें ए, ई, आई, ओ, यू स्वर व डब्लू, वाई अर्ध स्वर हैं तथा बाकी सभी व्यञ्जन।

अंग्रेजी लिपि को देवनागरी की ही भांति बाएं से दाएं की ओर लिखा जाता है। परन्तु सेमेटिक प्रभाव के कारण इसमे प्राकृतिक ध्वन्यात्मक वर्णविधान का पूर्णतः लोप हो चुका है। अंग्रेजी भाषा की बोलियों को उच्चारण के स्तर पर क्रमशः ब्रिटिश अंग्रेजी, अमेरिकन अंग्रेजी, कैनेडियन अंग्रेजी, ऑस्ट्रेलियन अंग्रेजी, न्यूजीलैंडियन अंग्रेजी, साउथ अफ्रिकन अंग्रेजी भागों में बाँटा जा सकता है। भारत में बोली जाने वाली अंग्रेजी का उच्चारण ब्रिटिश व अमेरिकन के साथ भारत के क्षेत्रीय उच्चारणों से भी प्रभावित रहती है।

वस्तुतः "सेमेटिक" शब्द बाइबिल के "उत्पति" अध्याय में वर्णित "नूह" के तीन बेटों में से एक रहा "सेम" से ही आया है। इस प्रकार पश्चिमी भाषाविज्ञान में सम्प्रदायवादी मानसिकता के प्रभाव में अक्षर के सटीक उच्चारण के लिए प्रयुक्त भाषिक ध्वनियों के स्थान पर सेमेटिक वर्ण लिपि को उच्चतर मान लिया गया। यह एक प्रकार से मानसिक धर्मान्धता ही है, जिसके आधार पर उन्होंने अक्षरमालाओं वाली जापानी, ब्राह्मी, मायान, मिस्री, देवनागरी, तमिल इत्यादि को "अपूर्ण" भाषा कहा।

परन्तु सत्य यह है कि मानव वाणी का प्राकृतिक खण्ड अक्षर ही है, स्वनिम तो केवल कृत्रिम विश्लेषण है। मानवीय भाषाओं में स्वनिमों व वर्णों का नहीं बल्कि अक्षरों का उच्चारण होता है। मनुष्य की वाणी की इकाई है अक्षर, न कि वर्ण। वर्णमाला केवल कृत्रिम विश्लेषण के लिए है। "अक्षर" ही वाक् की न्यूनतम भाषिक ईकाई है जिस कारण इसको अ–क्षर कहते हैं।

विश्व का प्राचीनतम व सबसे वैज्ञानिक भाषा-शास्त्र में ही रहा था और यह न केवल ध्वनि-विज्ञान को, बल्कि लिपि-विज्ञान एवं सामाजिक संरचना तक को संबोधित करता रहा। वर्णमाला का अस्तित्व ऋग्वैदिक काल से ही अत्यन्त परिष्कृत रुप से विद्यमान रहा। ऋग्वैदिक प्रातिशाख्य ग्रन्थों में ध्वनि का वर्गीकरण (स्थान- कंठव्य आदि, प्रयत्न-स्पर्श/घोष/अनुनासिक/उष्म आदि, स्वरगुण-उद्दात्त/अनुदात्त/स्वरित, संधि आदि) अन्तराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक वर्णमाला से भी अधिक वैज्ञानिक व सूक्ष्म रहा था।ऋग्वैदिक मंत्रों की मौखिक परम्परा को सिर्फ स्मृत ही नहीं किया जाता रहा, बल्कि इन्हें ध्वन्यात्मक परिशुद्धता के साथ संरक्षित भी किया गया। प्रातिशाख्य, वस्तुतः वैदिक शाखाओं के विशिष्ट नियमों की व्याकरणिक संहितायें ही है। इसलिए हर वेद की शाखा का अपना एक प्रातिशाख्य ग्रन्थ है और इन सभी का संग्रहित योग ही सामान्य व्याकरण की

परम्परा के रुप में विकसित हुई। महर्षि व्याडि ने सर्वप्रथम प्रातिशाख्यों के सम्मिलन से बने "सामान्य व्याकरण" को संहिता, सूत्र व प्रक्रिया की तीन पद्धतियों द्वारा दो लाख श्लोकों में विस्तृत रुप से संहितावद्ध किया। महर्षि पाणिनी ने कोई नया नियम नहीं बनाया, बल्कि उसी परम्परा को चार हजार सूत्रों की संगणनातमक संरचना कर इन्हें संक्षेपित किया। पाणिनी ने अपने ग्रन्थ "अष्टाध्यायी" को ऐसे साँचे मे ढ़ाला कि काल के किसी खण्ड का कोई भी प्रतिभावान छात्र उसे सहजता से कंठस्थ कर आत्मसात् करने मे पारंगत हो सकता है। व्याकरण का यह स्वरुप मात्र संस्कृत तक सीमित नहीं था, अपितु यह सभी भाषाओं के मूलभूत व्याकरणिक सिद्धान्तो को समझने का व्यापक आधार भी है। भारतीय लिपि-विज्ञान व व्याकरण की पूर्णता यह रही की भारतीय लिपियाँ, वर्णमाला के स्थान पर शब्दांश तथा संयुक्ताक्षर आधारित थी जिसमें हर अक्षर का विशेष उच्चारण स्वायत्त रहा और हर वर्ण का स्वतःसिद्ध ध्वन्यात्मक पहचान बना रहा। उच्चारण अनुक्रम (क, ख, ग, घ, ङ .....) न केवल ज्ञात थे, बल्कि श्रृंखलाबद्ध रुप से व्याख्यायित भी रहे थे।

भारतीय परम्परा में यह "स्थानप्रयत्नौ वर्णस्य" अर्थात स्थान - प्रयत्न भेद के आधार पर ध्वनि उच्चारण के क्रम से निरूपित है। पहले क्रम पर कंठव्य अर्थात जिनका उच्चारण कंठ से होता है (अ,आ,क,ख,ग,घ,ङ,ह व विसर्ग), दूसरे क्रम पर तालव्य अर्थात जिनका उच्चारण तालु से होता है (इ,ई,च,छ,ज,झ,ञ,य वश), तीसरे क्रम पर मूर्धन्य अर्थात जिनका उच्चारण मूर्द्धा से होता है (ट,ठ,ड,ढ,ण,र व ष), चौथे क्रम पर दंतव्य अर्थात जिनका उच्चारण ऊपर के दाँतो पर जिह्वा के लगने से होता है (त,थ,द,ध,न,ल व स), पाँचवे क्रम पर ओष्ठ्य अर्थात जिनका उच्चारण ओठों से होता है (उ,ऊ,प,फ,ब,भ,म), छठे क्रम पर अनुनासिक अर्थात जिनका उच्चारण मुख व नासिका से होता है (ङ,ञ,ण,न,म व अनुस्वार), सातवे क्रम पर कंठ-तालव्य अर्थात जिनका उच्चारण कंठ व तालु के सम्मलित प्रयास से होता है (ए , ऐ)। वर्णमाला कोई लिपि-निर्भर संरचना नहीं थी, अपितु नाद-विज्ञान पर आधारित मौखिक-वाचन परम्परा का ही परिणाम है। यही कारण है कि भारतीय वर्णमाला आज भी सर्वश्रेष्ठ भाषिक अभिरचना मानी जाती है। "वर्णमाला" = केवल भाषिक ध्वनियाँ (व्याकरण के दृष्टिकोण से) हैं, जबकि "अक्षरमाला" = वास्तविक उच्चारणीय इकाइयाँ (व्यवहार के दृष्टिकोण से) हैं।

पाणिनी ने अपने ग्रन्थ "अष्टाध्यायी" को ऐसे साँचे मे ढाला कि काल के किसी खण्ड का कोई भी प्रतिभावान छात्र उसे सहजता से कंठस्थ कर आत्मसात् करने मे पारंगत हो सकता है। व्याकरण का यह स्वरुप मात्र संस्कृत तक सीमित नहीं था, अपितु यह सभी भाषाओं के मूलभूत व्याकरणिक सिद्धान्तो को समझने का व्यापक आधार भी है।

इसलिए भारतीय बालक वर्ण नहीं, अक्षर पढ़ना सीखता है। अ-क्षर = जो क्षर नहीं होता (उच्चारण में खण्ड न हो), यानि स्वायत्त उच्चारण इकाई। यही कारण रहा कि ब्राह्मी और सिन्धुलिपि दोनों ही अक्षरमूलक लिपियाँ थीं, जिनमें 450 लिप्यात्मक चिन्ह थे, जो प्राकृतिक मानव वाणी की पूर्णता को दर्शाते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि विश्व का प्राचीनतम और सबसे वैज्ञानिक भाषाशास्त्र भारत में था — और वह न केवल ध्वनि-विज्ञान को ही, बल्कि लिपिविज्ञान और सामाजिक-संरचना तक को संबोधित करता था।

*****

जनजातीय समाज की हलमा संस्कृति

शक्ति सिंह
वरिष्ठ संपादक, स्वदेश

जनजातीय बहुल क्षेत्र झाबुआ-आलीराजपुर, धार-बड़वानी का जितना योगदान स्वाधीनता आंदोलन में रहा है, इससे बढ़ कर वे सनातन भारत की धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक एवं परंपरागत रीति-नीति के भी पोषक रहे हैं। पर्यावरण हितैषी प्रकल्पों का उनके प्रत्येक पर्व-उत्सव में विशेष जुड़ाव रहा है। क्योंकि जल, जंगल और जमीन को पूजने, सहेजने और संरक्षित करने के लिए जनजातीय बंधु सदैव संजीदा रहे हैं। तभी तो आज मध्यप्रदेश के वनवासी अंचल झाबुआ की 'हलमा परंपरा देश-दुनिया के लिए एक प्रेरणादायी उदाहरण बन चुकी है। इस अभिनव जन अभियान में शनै: शनै: ही सही जिस तरह से हजारों वनवासी बंधुओं ने परिवार सहित सामूहिक एकता के साथ अद्भुत अनुशासन दिखाते हुए सामूहिक प्रयासों से सैकड़ों गांवों की बंजर भूमि को पानीदार ही नहीं बनाया, बल्कि हरियाली का सुंदर चादर ओढ़ाने में भी सफल रहे, तभी तो अब हलमा का मतलब ही जल के लिए एक-दूसरे के साथ मिलकर सामूहिक श्रमदान करना एक प्रेरणादायी पहल के रूप में देश-दुनिया में आत्मसात किया जा रहा है। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी 'मन की बात में हलमा के जरिए पर्यावरण हितैषी प्रकल्प के सामूहिक प्रयास और नवाचार को देशवासियों के सामने रख चुके हैं। विश्व के अनेक देशों से इस जल संरक्षण और पर्यावरण हितैषी अभियान को देखने/समझने के लिए दल आ चुके हैं।

देश के सबसे बड़े सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की योजना से वनवासी अंचल में वनवासी बंधुओं को अपनी संस्कृति और धार्मिक रीति-नीति वाली जड़ों से जोड़े रखने के लिए करीब तीन दशक पूर्व पहले 'हिन्दू संगम झाबुआ का आयोजन हुआ था। उसी से प्रेरणा लेकर बाद में सेवा भारती एवं स्वयंसेवकों ने वनवासी बंधुओं को अपने परिवेश के साथ जोड़कर जल संरक्षण एवं पर्यावरण रक्षण के लिए जागृत करने में सफलता पाई थी। हिन्दू संगम झाबुआ की प्रेरणा से करीब ढाई दशक पूर्व 2002 में 'हलमा' की शुरुआत हुई। हालांकि हलमा को बड़े पैमाने पर 2008 में व्यावहारिक रूप दिया गया। परिणामस्वरूप साल 2009 के पहले हलमा में पानी के छोटे-छोटे गड्ढे बनाने के लिए आठ सौ लोग सामने आए और श्रमदान किया, अगले वर्ष यानि 2010 में सहभागिता बढ़कर 1600 हो गई। 2011 में दस हजार लोग इसमें शामिल हुए और आज यह संख्या लाखों जनजातीय परिवारों के साथ पर्यावरण हितैषी एक बड़े आंदोलन का रूप ले चुकी है, जिसे देखने/समझने के लिए सरकार, शैक्षणिक संस्थान, संगठनों से लेकर शोधार्थियों की बड़ी संख्या भी इस पर मंथन/शोध कर रही है। यही नहीं, बाहरी दुनिया से बढ़ते संपर्क ने इस जनजातीय क्षेत्र को आधुनिक तकनीकों के साथ परंपरागत तौर-तरीकों से अपनी ज्वलंत समस्याओं के समाधान का तरीका भी सिखाया है।

जनजातीय क्षेत्र में ऐसे आरंभ हुआ हलमा

जनजातीय बहुल झाबुआ में जब पानी की कमी की समस्या गंभीर हुई तो 22 लाख से ज्यादा आबादी के सामने वजूद का संकट खड़ गया। संकटग्रस्त इलाकों में पशुधन तो क्या, इंसानों के लिए भी पर्याप्त पानी नहीं था। यह ऐसी समस्या थी जिसका एक दिन में

समाधान नहीं हो सकता था। कोई अकेला व्यक्ति या स्वयं सरकार भी अपने दम पर इसे हल नहीं कर सकती थी, तब इससे जूझ रहे कुछ लोगों ने ही हलमा का प्रस्ताव दिया। संघ की प्रेरणा से सेवा भारती ने समाजसेवियों और झाबुआ के युवाओं के साथ मिलकर विचार किया कि अगर हलमा जैसी परंपरा किसी व्यक्ति के लिए हो सकती है तो गांवों के लिए क्यों नहीं..? जनजातीय समाज हलमा से भली-भांति परिचित था। इसलिए तय किया गया कि जल संकट से उबरने और झाबुआ की जमीन पर हरियाली का ताना-बाना बुनने के लिए हलमा को नया स्वरूप दिया जाए।

तकनीक के तालमेल से मिला नया स्वरूप

हलमा की परंपरा के द्वारा जल संरक्षण एवं पर्यावरण सुरक्षा का यह विचार जितना सनातनी और उपयोगी था उतना ही इस पर अमल करना भी कठिन था। इसके लिए आधुनिक तकनीक और परंपरा के बीच सामंजस्य बैठाया गया। जनजातीय भील समुदाय को यह समझाया गया कि जिस तरह किसी व्यक्ति को संकट के दौरान हलमा के जरिये सामान्य हालत में लाना संभव है, उसी तरह इसकी मदद से गांवों की तस्वीर भी बदली जा सकती है। उनके दिल में यह बात बैठाई गई कि एक-दूसरे से जुड़कर गांवों की सूरत बदली जा सकती है। राजा भागीरथी और झाबुआ की जलदेवी जाह्मा माता की कथा की प्रेरणा से मां गंगा को झाबुआ में आमंत्रित करने का संकल्प लिया गया। इस पहल में सभी ने सहयोग करने का भरोसा दिलाया और जल संकट से उबरने के लिए हलमा की यह परंपरा शुरू हुई। यह निश्चय किया गया कि हर साल जल संकट से जूझते स्थान पर पहुंचकर हलमा किया जाएगा। आज मार्च-अप्रैल, मई और जून माह में जनजातीय बहुल जिलों में व्यापक रूप से हलमा के जरिए जनजातीय बंधु परिवार सहित बच्चे, महिलाएं भी श्रमदान का प्रतिवर्ष कीर्तिमान रच रहे हैं।

एक परंपरा जो जल संवर्धन का आंदोलन बनी

आज झाबुआ के 500 से अधिक गांवों में पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से तालाब, स्टॉप डैम, गली नियंत्रक, बोरी बंधान, हैंडपंप रिचार्ज, कंटूर ट्रेंचेस आदि हजारों जल संरचनाओं का निर्माण हो चुका है। आज भी यह अभियान निरंतर जारी है। जल संरक्षण से शुरू हुए इस अभियान के दायरे में अब वन संवर्धन, गौ संवर्धन, जैविक कृषि, सामाजिक उद्यमिता और स्वच्छ गांव-स्वस्थ परिवार जैसे लक्ष्य भी शामिल हो चुके हैं। अधिकृत रूप से सूखाग्रस्त 350 से अधिक गांवों में 5000 से अधिक छोटी-बड़ी जल संरचना बनाई गई है। सार्वजनिक जनभागीदारी के जरिए 1,65,000 जल संरचनाओं का निर्माण कर व्यापक स्तर पर पौधारोपण भी किया गया है। दो दशकों में 95 बड़े तालाबों से 750 से अधिक गांवों में पानी की कमी की समस्या का काफी हद तक समाधान किया गया है, बल्कि प्रतिवर्ष 870 करोड़ लीटर वर्षा का जल प्रत्यक्ष रूप से संग्रह में भी हलमा परंपरा सफल हुई है।

जनजातीय बहुल निमाड़ अंचल में हलमा परंपरा ने हर किसी को प्रेरित और प्रभावित किया है, तभी तो आईआईटी और आईआईएम के युवा इस अंचल में वनवासी समाज के साथ मिलकर काम कर रहे हैं, यह भी कुछ लोगों के लिए इस अभियान की एक उपलब्धि है, पर इससे अधिक उपलब्धि तो यह है कि ये युवा भी मानते हैं कि वे खुद इन वनवासी समाज से वो सब कुछ सीख ही रहे हैं जो वास्तव में समाज के समग्र विकास के लिए जरूरी है। 95 बड़े तालाबों और 1,65,000 छोटे पानी संग्रहण केंद्रों (कंटूर ट्रेंच) के द्वारा प्रतिवर्ष 870 करोड़ लीटर वर्षा जल का प्रत्यक्ष संग्रहण हो रहा है। यह बड़ी पहल है। उपरोक्त आंकड़े, तथ्य और विश्लेषण सिर्फ इसलिए रख रहा हूं क्योंकि हम तथाकथित नगरीय समाज के कुछ कक्षाओं तक पढ़े-लिखे लोगों के सामने गणितीय संख्या ज्यादा विश्वसनीय-सी लगती है, हम भूल जाते हैं कि वो वनवासी समाज बहुत ज्यादा सरल, सहज

और निर्मल इसलिए है कि वो तर्कों पर नहीं, आस्था पर विश्वास करता है। उसके लिए उसकी स्वयं की परिवार की इकाई सदैव से सबसे आखिर में रही है। गांव और पूरे समाज की सकल समृद्धि उसकी सबसे बड़ी और पहली प्राथमिकता है।

झाबुआ सहित विभिन्न वनवासी समाज के बारे अनेकों मिथक गढ़ लिए गए थे, जिसे 17 जनवरी 2002 को झाबुआ में इसी वनवासी समाज ने पूरी तरह ध्वस्त कर दिया और आज लिखित रूप से एक अलग ही नजरिये से नगरीय समाज सम्मान के साथ इस वनवासी समाज को देखने लगा है और इसे हासिल भी इस आयोजन से इसी समाज ने बोल के नहीं वरन् अपने व्यवहार से किया है। आज विभिन्न माध्यमों से वनवासी समाज के ही युवा खुद आगे चलकर समग्र विकास के लिए सबसे आगे खड़े नजर आ रहे हैं। भाव सिर्फ यही की 'यह जीवन स्वार्थ के लिए नहीं, परमार्थ के लिए काम आए'।

ढाई दशक में हलमा परंपरा वैश्विक प्रेरणा का केन्द्र बनी

1. मध्यप्रदेश के जनजातीय बहुल झाबुआ जिले में 17 जनवरी 2002 की अलसायी ठंडी सुबह भविष्य की गर्म इबारत लिख रही है। ये उस दिन सूर्योदय की हर किरण के साथ हर दिशा से चले आ रहे उत्साही, लेकिन बेहद अनुशासित समूह की अविरत पंक्तियों में देखा जा सकता था। वनवासी समाज का वह अनुशासन और स्वाभिमान की पराकाष्ठा उस सुबह तथाकथित नगरीय बुद्धिजीवी समाज के लिए कौतूहल था। साथ ही भविष्य के लिए पूर्ण रूप से उस समाज की छवि को भी एकदम बदल देने की अभिव्यक्ति भी थी। 17 जनवरी 2002 सिर्फ झाबुआ के लिए नहीं, बल्कि भारत में रहने वाले बहुत बड़े वनवासी समाज के लिये भी एक ऐतिहासिक घटना का मील का पत्थर साबित हुआ। जिसे हम सबने इन 24 वर्षों में अनेकों माध्यमों से देखा। गुजरात का बहुत बड़ा वनवासी अंचल हो या राजस्थान के मानगढ़ का पर्वत इस समाज के विराट दिव्य दर्शन को अनेक बार देखा गया। आज जब हलमा परंपरा से जन-जन को जोड़कर ग्राम विकास का नया आयाम तय किया जा चुका है और इस प्रेरणादायी आयोजन एवं आंदोलन के ढाई दशक हो रहे हैं। महेशजी शर्मा का पद्मश्री से सम्मानित होना किसी के लिए यह भी एक उपलब्धि है, लेकिन हर किसी का यह भी मानना है कि उपलब्धि तो महेशजी शर्मा ने जो विश्वास और सम्मान वहां वनवासी समाज में अर्जित किया है उसका भी है। आज उन्हें सिर्फ झाबुआ के गांधी या दूसरे मामा बालेश्वर की संज्ञा इस अंचल में ही नहीं दी जाती है वरन देश के ख्याति प्राप्त शीर्ष संस्थानों में जिस तरह से उन्हें सुना और जाना जा रहा है, यह उपलब्धि जनजातीय समाज की ही है। महेशजी, हर्ष चौहान और संपूर्ण शिवगंगा परिवार के साथ ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समविचारी संगठन सेवा भारती का भी का सबसे बड़ा सम्मान, क्योंकि इन ढाई दशक में हलमा परंपरा पर्यावरण संरक्षण, संवर्धन एवं जल सहेजने की वैश्विक प्रेरणा का केन्द्र बन चुकी है।

2. इतिहास के सामर्थ्य को याद दिलाया

सन् 2005 में हलमा परंपरा को एक गैर सरकारी संगठन 'शिवगंगा' ने शुरू किया... पद्मश्री महेश शर्मा और राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग के पूर्व अध्यक्ष हर्ष चौहान की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका थी...जनजातीय आयोग के राष्ट्रीय अध्यक्ष रहे हर्ष चौहान ने भी इस हलमा परंपरा अभियान को नया आयाम देने में महती भूमिका निभाई...महेश शर्मा को भारत सरकार द्वारा उनके कार्यों के लिए 2019 में पद्मश्री से सम्मानित किया गया।

आज वो भील जनजातियों के बीच झाबुआ के गांधी बन चुके हैं...शिवगंगा और जनजाति समाज के मनोबल को उनकी जरूरतों ने फिर से साहस दिया..,यही कारण था कि जल संकट के मुसीबत में फंस चुका झाबुआ आज जल और जंगल दोनों में समृद्ध हो रहा है... हलमा को बड़े पैमाने पर 2008-2009 में व्यावहारिक रूप दिया गया... इस वर्ष पूरे झाबुआ क्षेत्र में इस संस्कृति को जीवित करने के लिए चैती यात्रा निकालकर लोगों को अपने इतिहास के सामर्थ्य को याद दिलाया गया...और अब यह उत्सव हर साल मनाया जाता है।

3. प्रधानमंत्री द्वारा हलमा परंपरा की सराहना

जनजातीय क्षेत्र की इस महती हलमा परंपरा के महत्व के कारण ही 24 अप्रैल 2022 को प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 'मन की बात में इसका जिक्र किया... हलमा ने झाबुआ जिले के बड़े हिस्से में जल संकट को कम करने में बड़ी भूमिका निभाई है...जल संग्रह के लिए 750 गांव में हलमा द्वारा बनाया गया 870 करोड़ लीटर क्षमता का तालाब अकल्पनीय है और बिना सरकारी मदद के कैसे समस्याओं के समाधान के लिए स्वावलंबी और आत्मनिर्भर बना जा सकता है.., इसका जीता-जागता उदाहरण है हलमा में जल संरक्षण के लिए पहाड़ पर छोटे-छोटे गड्ढे बनाने हों या तालाब, कुआं खोदना हो, किसी की फसल काटनी हो, भील जनजाति के लोग संगठन को शक्ति बनाकर हर संकट का हल कर लेते हैं हलमा परंपरा से।

विगत 26 फरवरी 2022 को सुबह-सुबह तत्कालीन मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान हेलीकॉप्टर से अपने कंधे पर गैंती रखकर उतरे थे...तब क्षणिक कल्पना हर किसी ने यही की थी कि मुख्यमंत्री किसान पुत्र हैं तो क्या अब प्रदेश के किसान इस कदर मालामाल होने वाले हैं कि हेलीकॉप्टर से जाकर गैंती फावड़े जैसे कृषि उपकरण कंधे पर रखकर बलराम बनकर उतरेंगे और अपना काम कर वापस हेलीकॉप्टर में बैठकर रवाना हो जाएंगे।

लेकिन जब मुख्यमंत्री शिवराज ने हलमा उत्सव में अपने उद्गार व्यक्त किए कि हलमा परंपरा को पूरे प्रदेश में लेकर जाएंगे.., यह सोच भी बहुत प्रभावी है... और यदि मध्यप्रदेश, देश और दुनिया के हर इंसान की भावना हलमा परंपरा को चरितार्थ करने की हो गई तो शायद दुनिया में कोई समस्या शेष नहीं बचेगी और सभी जगह बिखरा दिखेगा समाधान, समाधान और समाधान... जैसा कि शिवराज ने भी भरोसा जताया है कि ग्लोबल वार्मिंग जैसी समस्या का समाधान भी हलमा परंपरा से हो जाएगा.., यदि हर नागरिक इसे अपनाकर पारस्परिक सहयोग कर पर्यावरण की रक्षा का संकल्प ले सके... आज मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री डॉ. मोहन यादव के नेतृत्व में 'जल गंगा संवर्धन अभियान मध्यप्रदेश में एक जन आंदोलन बन गया है।

प्रदेश के परंपरागत जल स्त्रोतों को संरक्षित करने एवं हलमा जैसी पर्यावरण हितैषी एवं सामाजिक संस्कृति के लिए विकोसोन्मुखी इस पहल के आने वाले समय में व्यापक रूप से सार्थक परिणाम प्राप्त होने की उम्मीद की जा रही है। मध्यप्रदेश के मालवा-निमाड़ एवं जनजातीय बहुल झाबुआ, अलीराजपुर, धार, बड़वानी के साथ ही अन्य क्षेत्रों में प्रकृति हितैषी यह हलमा परंपरा बदलाव का मुख्य आधार बन रही है।

*****

जनजातीय संस्कृति और शिक्षा संस्कृति

डॉ. इसपाक अली
पूर्व प्राचार्य
लाल बहादुर शास्त्री
शिक्षा महाविद्यालय

आदिवासी अर्थात् जनजातियां विश्व के प्रत्येक भू भाग में पायी जाती है। अफ्रीका के बाद भारत में ऐसा देश है जहां आदिवासियों का बहुत बड़ा समूह है। सरलतम रूप में जन जाति ऐसी टोलियों का समूह है, जिसका सान्निध्य वाले भूखण्ड अथवा भूखण्डों पर अधिकार हो और जिसमें एकता की भावना संस्कृति में गहन समानता, निरंतर संपर्क तथा कतिपय सामुदायिक हितों में समानता में उत्पन्न हुई हों।

आर्थिक दृष्टि से भारत निरंतर प्रगति की ओर अग्रसर है। भारत वर्ष में अनेक जातियां है जिनमें अधिकांश विकास के पथ पर अग्रसर है लेकिन भारत का आदिवासी समाज आज भी राष्ट्र की मूलधारा से अलग-थलग पड़ा हुआ है। आदिवासी समाज में सामाजिक परिवर्तन देखने में आया है। बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना हुई है। कारखानों की स्थापना के साथ ही एक बहुत बड़ी श्रम शक्ति की आवश्यकता हुई। चूंकि जन-जातियों की जीविका का साधन मात्र श्रम रह गया। इस कारण उद्योगों में प्रवेश करना प्रारम्भ किया। ये लोग तेजी से गाँव छोड़-छोड़ कर शहरों की ओर पलायन करने लगे। ये वनवासी जो वनो पर आश्रित थे, उद्योगपतियों ने इनका शोषण प्रारंभ किया। इनसे अधिकतम काम लेकर न्यूतम मजदूरी देना शुरू किया। डॉ. मजूमदार के अनुसार "आदिवासी जानवरों की तरह काम करते है और इनसे जानवरों के समान ही व्यवहार किया जाता है। इन्हें एक नमूनें के रूप में रखा जाता है।"

वेरियर एल्विन के मतानुसार- "आदिवासी" भारतवर्ष की वास्तविक स्वेदशी उपज है जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है। ये वे प्राचीन लोग है जिनके नैतिक अधिकार और दावे हजारों वर्ष पुराने है। वे सबसे पहले यहां आएं, उन पर सबसे पहले हमें विचार करना चाहिए।

डॉ. अर्जुन दास के. सी. अपनी पुस्तक 'आदिवासी जीवन' नामक पुस्तक में चिचली पनौरा की उस रात का उल्लेख हैं। जब जून का महीना था। अन्न पानीदोनों का अकाल पड़ गया था। बड़े बूढ़े स्त्री बच्चे सभी भूखों मर रहे थे। एक मात्र बीडी पत्ते का सहारा रह गया था। जंगल के फल फूल, कन्द मूल भी नहीं रह गये थे। भोर होते पूरे गांव के आदिवासी निकलकर जंगल में चले जाते है। दिन भर पत्ते तोड़कर लाते तो रुपया बीस आने मजूदरी मिलती, जिससे वे जो केराव का आटा खरीदते और रोटी बनाकर साग या महुवा के साथ एक-एक रोटी खा कर सो रहते।

तब गांव के लोग मुखिया के दरवाजे पर बैठे कर पंचायत कर रहे थे कि कल किस जंगल की यात्रा करनी होगी। पानी कहां मिलेगा। पूछने पर मुखिया ने बताया "बापू चार कोस तक कही पानी नहिनी। कुएं यहाँ है। नहीं सब सूख गये है पहाड़ के अन्दर से बूंद बंद पानी चूकर इकट्ठा करते है। उहर हम पीते है।"

चिचली पनौरा की तरह ऐसी अनेक जगह है जहां प्रगति या विकास की किरणें पहुंच नहीं पाई है। वहां आदिवासी अपने सुखःदुख में जीते मरते है। वे अपनी परम्पराओं के साथ इस तरह चिपके होते है कि शिक्षालय को वे जेहलखाना कहते है। अध्यापकों को लड़िक धरवा कहकर उससे दूर भागते है। उनसे यदि पूछि अपने बच्चों को स्कूल क्यों नहीं भेजते हो?

तो वे कहते है। "पढ़ते-लिखते कवन काम। हर जोति घर आई धान।"

वस्तुतः शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सुनिश्चित करना है। शिक्षा व्यक्ति को पूर्ण रूपेण विकसित करने हेतु एक प्रयोजनपूर्ण एवं व्यवस्थित प्रयास है जिससे व्यक्ति स्वयं अपने ज्ञान को ठीक से समझकर दूसरे के विचारों तथा भावों से तादात्म्य करके और ईष्ट जगत को वास्तविक स्वरूप स्वयं में संजोकर आदर्श मानव बन सके।" इस दृष्टि से शिक्षित मनुष्य की विशिष्टता यह है कि वह तत्कालीन समाज के साथ सभी दृष्टियों से सांमजस्य स्थापित कर सके। इसी संदर्भ में हम यहाँ यह विश्लेषण करना चाहेंगे कि क्या शिक्षा आदिवासी बच्चे को इस योग्य बना पा रही है कि वह स्वयं को समकालीन बहुसंस्कृति वाले समाज के अनुरूप ढाल लेता है अथवा नहीं। यदि शिक्षित व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाता तो सामाजिक विषमता पैदा हो ही जाती है। सम्पूर्ण भारत के विकास हेतु भारतीय संस्कृति और आदिवासी विविधता प्रधान संस्कृति में समुचित संतुलन होना परम आवश्यक है। इस स्तर पर पनपा असंतुलन, देश में सामाजिक असंतुलन अवश्य पैदा करेगा। बच्चे को स्कूल में जो पढ़ाया-सिखाया जाता है, यदि घर और समाज में व्यवहार उससे विपरीत पाया जाएगा तो एक साधारण बच्चा शिक्षा-पास के अनुपालन के बजाय वैसा आचरण करेगा जैसा घर और समाज में वह देखता-भोगता है और स्कूल मैं जिन मूल्यों और नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाता है व्यवहार में उनका उलट ही सामने आता है। आज की शिक्षा को अव्यवहारिक और अनुपयोगी समझकर बच्चा ऐसी शिक्षा से उदासीन हो जाता है और उसे नकार देता है। यदि हम स्कूल के इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देंगे तो स्थिति बद से बदतर ही होगी।

अतः स्कूली शिक्षा का स्थानीय संस्कृति से संपर्क होना चाहिए। आदिवासी लोगों की दृष्टि में स्कूली शिक्षा उन कारणों में से एक समझा जाता है जो बच्चों को सुधारने के स्थान पर उन्हें बिगाड देती है। इस धारणा की वजह से ही आदिवासी लोग अपने बच्चे को स्कूल भेजने से कतराते या उसकी स्कूली शिक्षा बीच में ही छुड़वा देते हैं।

आदिवासी लोगों को यह भय ठीक ही लगता है कि आधुनिक शिक्षा बच्चों को मात्र पढ़ना सिखाती है जिससे शिक्षित युवक अपने परिवार और परम्परागत काम-धंधों को करना छोड़ देते हैं। विभिन्न स्थानों पर किये गये अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि आदिवासियों में यह कष्टदायी भावना सार्वभौम रूप से विद्यमान है कि शिक्षित बच्चे अपने परिवारों से बिछड़ जाते हैं और फलतः अपने परिवार को त्याग देते हैं।

अतः आदिवासी क्षेत्रों के लिए ऐसी शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है जो आदिवासियों की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के अनुरूप हो जिससे आदिवासी लोगों में अंसतोष, निराशा और भय का वातावरण व्याप्त न हो, आदिवासी समाज का विघटन न हो, उनके परिवारों में दरार न पड़े तथा आदिवासी संस्कृति रहे। इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उनकी शिक्षा का स्वरूप ऐसा बनाएँ जो आदिवासी की मूल पहचान की रक्षा कर सके, उनकी आकांक्षा, निराशा और हताशा को मिटा सके। इस प्रयोजनार्थ आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा होते हुए भी ऐसे विषय पाठ्यक्रम तैयार किये जाएँ जो उनकी आवश्यकताओं को पूरा करें, उनकी संस्कृति की रक्षा करें, उनके भय को समूल नष्ट करें। इस प्रयोजनार्थ पाठ्यक्रमों में स्थानीय वातावरण, स्थानीय कथाओं, लोकगीतों, स्थानों घटनाओं, कार्य-पद्धतियों, स्थानीय रीति-रिवाजों, परम्पराओं, त्योहारों एवं उत्सवों आदि को त्याग देना अनिवार्य है।

अपनी मातृभाषा नहीं जानने में आदिवासियों का भी दोष है। उनके मन में अंग्रेजियत का भूत सवार है। उनका मानना है कि मातृभाषा की पढ़ाई से उनके बच्चे अग्रेंजी में कमजोर हो जायेंगे। शिक्षा संस्थाएं

चलाने वाले भी कम दोषी नहीं है। उन्होंने अपने द्वारा संचालित स्कूलों में मातृभाषा की पढ़ाई नहीं होने दी। इन स्कूलों में बचपन से ही विद्यार्थियों के मन में यह भावना डाल दी जाती है कि अपनी भाषा बोलने से विद्यार्थी हिन्दी और अंग्रेजी में कमजोर हो जाते है। इस गलतफहमी को गैर आदिवासी समाज अच्छी तरह से समझता है। यहां का बाहरी समाज आज भी महसूस करता है कि अपनी मातृभाषा में शिक्षा पाने से आदिवासियों का आत्म गौरव बढ़ सकता है।

यहां वैज्ञानिक तथ्य है कि कम से कम समय में साक्षर होने के लिए और ज्ञानार्जन का प्रारंभिक द्वार खोलने के लिए मातृभाषा का उपयोग सबसे कारगर सिद्ध होता है। सभी लोग आपने घरों में सारे क्रिया कलाप अपनी मातृभाषाओं में ही साकार करते है। बच्चे भी घर में मातृभाषा में बोलते है लेकिन जब वे स्कूल जाते है जो उन्हें हिन्दी या अंग्रेजी में बोलना पड़ता है। जिससे वे शिक्षक की बात नहीं समझ पाते। बातें नहीं कर सकते। धीरे-धीरे ये बच्चे स्कूल से दूर हो जाते है नतीजा बच्चे स्कूल छोड़ देते है।

हम जानते है कि आदिवासी भाषाएं सृष्टि की प्रारम्भिक मूल भाषाएं है जिनका प्रयोग यदि बचपन में न किया जाए तो बाद में उन्हें सीख पाना असम्भव हो जाता है। इस तरह जो बच्चे बचपन में ही मातृभाषा नहीं सीख पाते, उनके लिए भाषा की मृत्यु हो जाती है। मातृभाषा का प्रयोग करने वालों में हीन भावना भर दी जाती है। यह आदिवासियों को अपनी मातृभाषाओं को भुलाकर इससे दूर रखकर उन पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास है। आदिवासी भाषाएं आज लुप्त होती जा रही है। उनके मन में यह बात भर दी गई है कि उनकी भाषा बेकार है। ये मातृ-भाषाएं संचार माध्यमों द्वारा उपेक्षित है। इन सभी बातों पर विचार कर ही हमें आदिवासी-समाज की शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। इन जनजाति-समुदायों और लोगों के मन में यह विश्वास जागृत हो जाए कि उनके बच्चों को दी जीने वाली शिक्षा उनके स्वयं के लिए लाभप्रद और उपयोगी होगी तो वे निश्चित रूप से अपने आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा के प्रचार और प्रसार में सहयोग देंगे और परिणामतः अधिक संख्या में आदिवासी लोग साक्षर और शिक्षित होंगे और उनकी आय बढ़ेगी तथा उनका जीवन-स्तर भी उच्च होगा। किसी भी समाज में विकास गति को शिक्षा के आधार पर ही मापा जा सकता है। समाज कितना शिक्षित है और वहाँ कितनी भौतिक प्रगति हई है उसे आंकने के लिए सबसे सरल उपाय में व्याप्त साक्षरता और शिक्षा ही है।

देश में यह पाया जाता है कि आदिवासी जैसी छोटी संस्कृति शिक्षा के कारण अपना अस्तित्व खोती जा रही हैं, क्योंकि शिक्षित आदिवासी युवक अन्य बड़ी संस्कृतियों से प्रभावित होकर अपनी मूल संस्कृति से दूर हटते जाते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा के कारण बड़ी संस्कृतियाँ पुष्ट होती जाती हैं और छोटी संस्कृतियाँ नष्ट हो जाती है। यह समस्या हमारे देश के सभी आदिवासी क्षेत्रों में विकट रूप धारण कर चुकी है। भारत जैसे बहु-संस्कृतिवादी देश में इस प्रक्रिया का कोई प्रभावी समाधान नहीं खोजा गया तो और भी छोटी संस्कृतियाँ निश्चित रूप से लुप्तप्राय होजाएँगी। इन छोटी लघु संस्कृतियों पर शिक्षा का दुष्प्रभाव पड़ने का प्रमुख कारण यह है कि शिक्षाविद् पाठ्यक्रमों को विकसित करते समय इस नकारात्मक प्रभाव पर ध्यान नहीं देते हैं और वे देश के अधिकांश भाग के लिए एक जैसी ही शिक्षा नीति और एक जैसी पाठ्पुस्तकें तथा पाठ्यक्रम बना लेते हैं। वह आदिवासियों की मान्यताओं, संस्करागत विचारों और स्थानीय परिस्थितियों को ऐसे भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के पाठ्यक्रम बनाते समय ध्यान में रखें। वस्तुतः देश में शिक्षा के माध्यम से एक ऐसी नयी संस्कृति का विकास किया जाना चाहिए जिसमें अपने देश में विद्यमान न्यूनाधिक रूप से सभी संस्कृतियों का समावेश हो और विदेशी संस्कृतियों का जहाँ तक संभव हो, अनावश्यक बातों का त्याग कर दिया जाए जिससे विदेशी संस्कृति के अंधानुकरण पर अंकुश लग जाए।

*****

घुमंतू बंजारा समुदाय के विविध संस्कार : साहित्य और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में

प्रो शैलेंद्रकुमार शर्मा
विभागाध्यक्ष, हिन्दी अध्ययनशाला,
विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन

मानव अस्तित्व शैशवकाल में अनगढ़ होता है, मानवीय और नैतिक गुणों से सम्पन्न और संस्कारित करके उसके व्यक्तित्व को विकसित करने की आवश्यकता होती है। संस्कार की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि संस्करणं सम्यक्करणं वा संस्कारः अर्थात् दोषों के निवारण, अभाव या त्रुटि की पूर्ति करते हुए शरीर और आत्मा में श्रेष्ठ गुणों का सृजन करने वाले शास्त्र विहित क्रियाकलापों या कर्मकांड द्वारा उत्पन्न अतिशय - विशेष को संस्कार कहा जाता है। इस प्रकार मैल, दोष, दुर्गुण या कमी का निराकरण कर शरीर और आत्मा की अपूर्णता की पूर्ति करते हुए श्रेष्ठ गुणों को उत्पन्न करना ही संस्कार है।

भारतीय संस्कृति में शास्त्र से लेकर लोक तक संस्कारों की विशेष महिमा रही है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में बसे लोक, जनजातीय समुदायों, विमुक्त एवं घुमंतू जातियों में अनेक संस्कार विधिपूर्वक किए जाते हैं। इनसे जुड़े हुए अनेक लोकाचार, लोकानुष्ठान, लोकगीत, कथाएं, लोकोक्तियाँ आदि प्रचलित हैं। विभिन्न अंचलों में इनसे जुड़े स्थानीय रीति - रिवाजों की भी अहम भूमिका दिखाई देती है। बंजारा, कंजर सहित बीस से अधिक विमुक्त जातियाँ यथा, बंजारा, कंजर, सांसी, बांछड़ा, कालबेलिया, भारमोटिया (भरमोटिया), मोघिया, बागरी, नट, पारधी, बेड़िया, हबूदा, भाटू, कुचबंदिया, बिजारिया, कबूतारिया (कबूतर), सन्दुत्या, पासी (पासीया), चन्द्रबेड़िया, बेरागी और सनोरिया मध्यप्रदेश में निवासरत हैं। समीपवर्ती राजस्थान में पचास से अधिक समुदाय इसके अंतर्गत आते हैं। इसमें नट, भाट, भोपा, बंजारा, कालबेलिया, गड़िया या गाड़ोलिया लोहार, गवारिया, बाजीगर, कलंदर, बहरूपिया, जोगी, बावरिया, मारवाड़िया, साठिया, रैबारी आदि प्रमुख हैं जिनमें से कई मध्यप्रदेश के मालवा, निमाड़, बुंदेलखंड और चंबल क्षेत्र में भी बसे हुए हैं। लोक अनुश्रुतियों के अनुसार छत्तीसगढ़ में बसे पारधी, बहेलिया, ब्याधा, चिता पारधी, लंगोली पारधी, शिकारी, टाकनकार, टाकिया आदि में से कई मध्यप्रदेश और राजस्थान से संबंध रखते हैं। सरगुजा जिले में बसे व्याध या शिकारी समुदाय के लोग अपना संबंध उज्जैन से जोड़ते हैं। इन सभी समुदायों में संस्कारों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

बंजारा देश की एक प्रमुख विमुक्त जाति है। जीवन भर घूमने के चलते बंजारा समुदाय अविराम यात्रा के पर्याय बन चुके हैं। बंजारों का न कोई ठौर-ठिकाना होता है, न ही घर-द्वार। पूरा जीवन यायावरी में निकाल देते हैं। सदियों से यह समुदाय देश के दूर-दराज इलाकों में निडर हो यात्राएं करता रहा है। देश-देशान्तरों को नापते बंजारे, अरब से अरबी कपड़े, मुल्तान से मुल्तानी मिट्टी और गुजरात के तटीय इलाकों से नमक गधों पर लादकर भारत के अलग-अलग हिस्सों की यात्रा करते थे और अपना भरण पोषण करते थे। ये लोग व्यापार के माध्यम से भिन्न-भिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों को जोड़ने का काम

करते हैं। बंजारों की लोक संस्कृति में विविध संस्कारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका दिखाई देती है।

संस्कारों की महत्ता सुदूर अतीत से अब तक बनी हुई है। दुनिया के प्रायः सभी धर्म, विश्वासों और संप्रदायों के संस्कार महत्वपूर्ण बने हुए हैं। भारत में जन्म से पूर्व गर्भ से ही संस्कारयुक्त बनाने के प्रयत्न आरम्भ हो जाते हैं। जन्म पूर्व के संस्कारों के पीछे भावी पीढ़ी की बेहतरी के साथ प्रसूता की सम्यक् साज - संभाल की चिंता भी दिखाई देती है। गर्भधारण के बाद माता के खान पान, आचार विचार, आहार विहार पर ध्यान देना आवश्यक होता है। उस समय उसकी इच्छा - अनिच्छा, रुचि - अरुचि का विशेष ध्यान रखा जाता है। वह प्रसन्नचित्त और तनावमुक्त रहे, इसका दायित्व सभी परिवारजनों पर रहता है। यह चिंता बंजारा समुदाय में भी दिखाई देती है।

संस्कारों से तमाम प्रकार की बुराइयों से मुक्ति मिलती है और मनुष्य नीति संपन्न बनता है। देश देशान्तरों में संस्कार की कई विधियाँ प्रचलित हैं। भारतीय मान्यता है कि जन्म से मनुष्य संस्कारों से विहीन होता है, क्रमानुसार उसे संस्कारशील बनाया जाता है। प्राचीन काल में संस्कारों के प्रकार और संख्या को लेकर अलग - अलग मत मिलते हैं। हारीत ने दो प्रकार के संस्कार द्विविधो हि संस्कारो ब्राह्मो दैवश्च माने हैं। ब्राह्म और दैव दो प्रकार के संस्कार होते हैं। उन्होंने गर्भाधान आदि संस्कारों को ब्राह्म संस्कार कहा है, जिनके माध्यम से श्रेष्ठ गुण और विशेषताएं उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार वे पाक, यज्ञ आदि संस्कारों को दैव संस्कार कहते हैं, जिनके माध्यम से देवत्व अथवा देव सदृश गुण उत्पन्न होते हैं। सोलह प्रमुख ब्राह्मण या स्मार्त संस्कारों को व्यास स्मृति में इस तरह बताया गया है -

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।

नामक्रिया निष्क्रमोऽन्न-प्राशनं वपनक्रिया॥

कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।

केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥

त्रेताग्निसङ्ग्रहश्चेति संस्काराः षोडशः स्मृताः।

महर्षि अंगिरा ने इन षोडश संस्कारों के साथ पंचमहायज्ञ, अष्टका, श्रावणी, आश्वयुजी, आग्रयण, वेदारम्भ, वेदोत्सर्जन, प्रत्यवरोहण तथा दार्श-श्राद्ध की गणना कर पच्चीस प्रमुख संस्कार बताए हैं। उन्होंने बलिकर्म और निष्क्रमण इन दोनों को भी षोडश संस्कारों में सम्मिलित किया है। इसी प्रकार महर्षि गौतम ने गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चार वेदव्रत, स्नान (समावर्तन), सहधर्मचारिणी संयोग (विवाह) तथा पंच महायज्ञों का अनुष्ठान इन सोलह ब्राह्म-संस्कारों के साथ उपर्युक्त इक्कीस दैव -संस्कारों का परिगणन कर कुल मिलाकर चालीस संस्कार बताए हैं। इनके अलावा उन्होंने दया, शान्ति, अनसूया, शौच, मंगल, अकृपणता, अस्पृहा और अनायास इन आठ आत्मगुणों की गणना कर कुल अड़तालीस संस्कार बताए हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से इन सोलह स्मार्त संस्कारों को चार वर्गों- प्राग्जन्म-संस्कार, शैशव-संस्कार, शैक्षणिक-संस्कार और गृहस्थ- प्रवेश- संस्कार में बांटा जा सकता है। विभिन्न संस्कारों में से अधिकांश संस्कार जन्म से किशोरावस्था के पूर्व तक सम्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि इस दौरान जो संस्कार विकसित होते हैं उनके निरन्तर बने रहने की संभावनाएँ अधिक होती हैं। विभिन्न समुदायों में प्रचलित संस्कार एक तरह से प्रतीकात्मक अनुष्ठान और व्यंजक होते हैं। इनमें अनेक प्रकार के गहन संकेत और अनुभव छुपे हुए हैं, अतः इनके मूलाधार को समझे बिना उनके साथ न्याय नहीं किया जा सकता है।

संस्कार हमारे जीवन के महत्वपूर्ण पड़ावों को पवित्रता और महिमा प्रदान करते हैं। मनुष्य जीवन मात्र शरीर से जुड़ा हुआ व्यापार नहीं है, वरन् उसका संबंध मनुष्य की बुद्धि, भावना और आत्मा से है। संस्कार इन सभी के प्रति जागरूकता उत्पन्न करते हैं।

संस्कारों का महत्त्व केवल व्यक्ति या परिवार जीवन के लिए नहीं है, सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र और विश्व जीवन के लिए है। जीवन को उत्तरोत्तर बेहतर बनाने में इनकी भूमिका है। संस्कारवान व्यक्ति उसी तरह बन जाता है जैसे किसी धातु को घिसने - मांजने से उसमें चमक आ जाती है।

मध्यप्रदेश सहित भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बसे विमुक्त समुदायों की अपनी विशिष्ट संस्कृति, संस्कार और परंपराएँ हैं। उनके नामकरण, मूल स्थान और उत्पत्ति की अलग - अलग किंवदंतियाँ हैं। उनके अपने विशिष्ट रीति रिवाज, मान्यताएँ, देवी - देवता, अनुष्ठान, लोक विश्वास, प्रतीक, वस्त्राभूषण, खान-पान, व्यवसाय और खेल हैं। इनका परिवेश और कर्मानुरूप विशिष्ट शारीरिक गठन और रूप - रंग है। उनकी पारिवारिक व्यवस्था, सामाजिक संगठन, न्याय एवं जाति पंचायतों में भी विलक्षणता दिखाई देती है। बार बार प्रताड़ना और बेदखल किए जाने के बावजूद विमुक्त और घुमन्तू समुदायों ने अपनी जातीय स्मृतियों, मूल्य और मान्यताओं को कथा, गाथा, लोकगीत, कहावत, पहेली आदि के माध्यम से कंठानुकंठ प्रवाहित करते हुए जीवित रखा है। मध्यप्रदेश में बसी कई विमुक्त जातियों ने नृत्य, गायन, वादन, नाट्य, शिल्प, चित्र, गुदना, आदि के माध्यम से अपनी विशिष्ट प्रदर्शनकारी और रूपंकर कलाओं को जीवित रखा है। मध्यप्रदेश की प्रमुख विमुक्त जातियों – बंजारा, बागरी, मोघिया, पारधी, नट आदि की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान है, जिस पर निकटवर्ती समुदायों का न्यूनाधिक प्रभाव दिखाई देता है तो उन्होंने भी अपनी छाप समीप बसे समुदायों पर छोड़ी है।

विभिन्न घुमन्तू समुदायों में बंजारा समुदाय का वाचिक साहित्य अत्यंत समृद्ध है। संस्कार लोकगीत बंजारों में विशेष महत्व के हैं। इन गीतों में उनकी सांस्कृतिक परम्पराएँ, लोक विश्वास, इतिहास और जातीय स्मृतियों के अनेक तत्व अंतर्निहित हैं। जन्म, विवाह और मृत्यु जीवन-चक्र के तीन प्रमुख बिन्दु हैं, जो विभिन्न संस्कारों से जुड़े होते हैं। जन्म, नामकरण, मुंडन, विवाह, मृत्यु आदि से संबंधित संस्कार बंजारा समुदाय में परंपरागत रूप से व्यवहार में लाए जाते हैं और संस्कार गीत भी गाए जाते हैं। इनके संस्कार संबंधी लोक साहित्य में जन्म (बधावा), जलवा, वेमता माता या छठी, नामकरण, मुंडन, विवाह, तिलक या सगाई, मांडो या मंडप, पराती या परभाती, उबटना, हल्दी, चूड़ी पहनने, वस्त्र परिधान, बना - बनी, द्वारचार या अगवानी, भाँवर या फेरे, बिदाई – ढावलो, हवेली, मल या मलालो, मृत्यु आदि संबंधी लोकगीत प्रमुख हैं। इनके संस्कार गीतों के कई उपखंड किए जा सकते हैं। विवाह गीतों को सगाई, घोटा, भोज, बना - बनी, विवाह की विधियाँ, सीठना, लग्न, ढावला, बिदाई गीत, ससुराल में वधू का स्वागत एवं विविध मे बांटा जा सकता है। इन गीतों को नई पीढ़ी अपनी दादी अथवा नानी के साथ गाते - गाते सीख जाती है। ढावला जैसे कुछ गीतों की लय बड़े परिश्रम से सीखी जाती है। बंजारा समुदाय में यह विश्वास है कि आराधना द्वारा लोक देवी – देवता प्रसन्न होकर भक्तों की इच्छाएँ अपने अंदर समाहित कर लेते हैं। इसलिए उन्हें प्रसन्न करने के लिए वे विविध आनुष्ठानिक क्रियाएँ करते हैं। उनका उद्देश्य यही है कि जन्म के बाद सन्तान या विवाह के दौरान वर - वधू को अनिष्ट शक्तियों से संरक्षित किया जा सके। उन्हें दीर्घ जीवन मिले, स्वास्थ्य अच्छा रहे। इस प्रकार के अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बंजारा समुदाय में कई प्रकार के संस्कार किए जाते हैं।

जन्म से संबंधित अनेक संस्कार विधियाँ और लोकगीत बंजारा समुदाय में प्रचलित हैं। बंजारा समुदाय में प्रसव या जनन क्रिया को जणणा कहा जाता है। कुछ क्षेत्रों में शिशु जन्म के समय प्रसूता के लिए अलग से एक झोंपड़ी बना कर उसे दूर रखा

जाता था। उससे सूतक के रूप में लगभग एक माह तक दूरी बरती जाती है जो प्रसूति को रोगमुक्त ढंग से सम्पन्न करवाने के लिए की जाती है। कहीं यह अवधि इक्कीस दिनों तक रहती है। जन्म के बाद ही ब्राह्मण से पांच नाम पूछे जाते हैं। उन नामों को बोलने के बाद प्रसूति को स्तनपान कराया जाता है और लोगों को लापसी का भोज दिया जाता है। मानव जीवन जन्म से मृत्यु के बीच की यात्रा है। बंजारा समुदाय में बच्चे के जन्म समय नार (नाल) गिरने तक परिवार में सूतक होता है, उसके बाद शुद्धिकरण। महिलाएँ बधाई गाती हैं। भाँग (गुड़- आटे से बना व्यंजन) और घुघरी बंटती है। बंजारा समुदाय में जन्म के समय बधाई गीत, विवाह में सगुन गीत, गारी, होली में फाग, भुजलिया, गणगौर में आल्हा गीत, ईश्वर आराधना में झामरा भजन - जस, श्रमगीत, शोक गीत एवं अन्य उत्सव में लोकगीत गायन होता है। पुत्र जन्म के अवसर पर गाया जानेवाला लोकगीत वधावा कहलाता है। इस गीत में हर्ष प्रकट किया जाता है। वधावा या बधावे की कड़ी को लेंगी कहते हैं। इसका प्रयोग हर्ष की अभिव्यक्ति के लिए होता है। पुरुष सामूहिक रूप से लेंगी गाते हैं। स्वर को ऊंचा-नीचा करते जब कोई समूह लेंगी गाता है तो समा बंध जाता है। लेंगी में कांसे के घड़ियाल पर चोट मार कर ताल दी जाती है। इस चोट के कारण वातावरण झंकृत होता रहता है। बंजारा समुदाय का लोकप्रिय बधाई लोकगीत है - पहलो मेंड़ों हे गोसाई बाबा रो निकरो कौड़ौं उपजो तू जो मेड़ों धरती माता रो लीजो जेरी ऊपजी हरियल दूब तीजों मेंड़ों धरती माता रो वासंग देवता जे पे रचणा रचायो।

सन्तान के जन्म को ईश्वर की कृपा माना जाता है। टांडों में बंजारा स्त्री की प्रसव अवस्था में कोई विशेष देखभाल नहीं की जाती है, क्योंकि समुदाय में यह सोच रही है कि प्रसव एक सहज क्रिया है। ईश्वर की कृपा से सब कुछ अच्छा होकर रहेगा, यह विश्वास इस समुदाय में आज भी देखा जा सकता है। विशेषत: यह भी देखा गया है कि स्त्रियाँ शिशु को जन्म देने तक कार्य करती रहती हैं। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जिनमें कई बंजारा स्त्रियों ने सामान्य कामकाज करते समय शिशु को जन्म दिया हो। शिशु के जन्म देने को स्त्री का पुनर्जन्म माना गया है। स्त्री के जीवन-मरण का प्रश्न होते हुए भी बंजारे अपनी स्त्रियों को प्रसव पीड़ा के बाद प्रायः घर पर ही इस क्रिया को सम्पन्न करवाते हैं। प्राचीन काल में प्रसव उपचार की पर्याप्त सुविधाएँ नहीं थीं। स्त्रियों को प्रसव पीड़ा अधिक महसूस होने लगती है तो अपने कुल देवता की पवित्र धूनी का अंगार माथे पर लगाते हैं। प्रसव पीड़ा से जूझती स्त्री अपनी दादी से इस वेदना को व्यक्त करती है, एक लोकगीत देखिए -

दादीये थामलं मारे जीवड़ान।

कड़ेमा सुळा लागरोचं

पेटेमा कालजो तोड़रोच।

दादीये थामलं मारे जीवड़ान।

अर्थात् दादी मेरे तो प्राण थम गये हैं। कमर में सुई जैसी चुभन हो रही है। पेट में कलेजा टूट रहा है। दादी मेरे तो प्राण थम गये हैं।

बंजारा परिवार में शिशु के जन्म के समय दाई, जिसे डाईसाल कहते हैं, प्रसवकाल में महत्त्वपूर्ण सहायता देती है। दाई माता से विनय याचना करते हुए उसे प्रलोभन भी दिया जाता है, जिससे सब कुछ कुशलता से हो जाए।

दायी मार याड़ी चाल झपको घरेन

तोन रुपेरो हासलो दरा दियूं

तोन ज्यार गेवहुँ दियूं।

तेन याड़ी पामड़ी दारा दियु।

प्रसव की अवधि में बंजारा स्त्रियाँ शिशु जन्म के बाद थाळी एवं नगाड़ा बजाने, नाळो काटने, नातरो, जलवा धकाणो, जावल काड़णो जैसी विधियाँ

सम्पन्न करती हैं। ये सभी जन्म संस्कार के मुख्य अंग हैं। प्रसव के बाद स्त्री को लड़का हुआ या लड़की यह सूचना सर्वप्रथम दाय माता से परिवारजनों को मिलती है। यदि लड़का हुआ तो टांडे के मध्य भाग में जाकर नगाड़ा बजाया जाता है और यदि लड़की हुई तो थाली।

प्रसव प्रक्रिया के बाद नाल या नालो काटने की विधि संपन्न की जाती है। नाल काटने के बाद आँगन के बाईं ओर एक गड्ढा खोदकर उसमें प्रसव का रक्त और नाळो को गाड़ दिया जाता है। इस विधि के बाद माता शिशु को स्तन पान कर नहलाती है। शिशु को दिन में दो बार नहलाया जाता है। शिशु की मालिश कर पैरों पर औंधा लेटाकर स्त्रियाँ नहलाती हैं, जिससे शिशु तुरन्त सो जाता है। शिशु सो जाने के बाद दादी माँ गाती है - याड़ी बाप दिने जनम/नव मिना नव दाड़ घाली पेटे में/बाळा सो जोर।

संतान जन्म का समाचार मिलने के बाद टांडे की सभी स्त्रियाँ आकर गीत गाकर बधाई देती हैं। उसमें नायक की पत्नी भी सहभागी होती है। संतान के जन्म की सूचना मिलने पर बधाई के रूप में नातरो नामक लोकगीत सभी स्त्रियाँ गाती हैं -

पेल मड़ाये नामे मारी धरती रो लेस्या।

धरती रो जावे तल नीपजो ये।।

दूसरो मड़ाये नामे मारे मेलिया रो लेस्या

मेलिया रो जावे तल नीपजो ये।।

तीन मड़ाये नामे मारे गोसाई से जाय आणद वदाव।

गोसाई से जावे तल नीपजो ये sss।।

चार पड़ाये नामे मारे गावड्ली रो लेस्या

गावड़ली रो जाव बसु धोरये sss।।

पाँच मड़ाये नामे मारे छोललड़ी रो लेस्या।

छेललड़ी रो जाव चलहल बोकड़े sss।।

छे मड़ाये नामे मारे घोड़ली रो लेस्या

घोड़ली रो जाव तेजी हाण होकरे।।

सात मड़ाये नामे मारे भेसलड़ी रो लेस्या।

भेसलड़ी रो जाव समदर होलोळो।।

आठ मड़ाये नामे मारे जणती रो लेस्या

जणती रो जाव ओरो भरये sss।।

नवमड़ो मड़ाये नामे मारे नायकेडे रो लेस्या

नायके री नगरीये आणद वदावे sss।।

आशय है कि सर्वप्रथम हम धरती माता को नमन करते हैं, जिसके तल पर तुमने जन्म लिया। दूसरा नमन महाराज को करते हैं। तीसरा नमन हम शिवशंकर (गोसाई) को करते हैं, जिसकी कृपा से तुम्हारा जन्म हुआ। चौथा नमन हम गौ माता को करते हैं। तुम्हारे कल्याण के लिये गौ माता को किया गया प्रणाम बसु (वृषभ) के पास भी पहुँचेगा। पाँचवाँ नमन हम बकरी को करते हैं, साथ ही बकरे को भी करते हैं, जो बलि देते समय काम आएगा। छठा नमन हम घोड़ी को करते हैं, जिसका उपयोग तुम्हारे जीवन में होगा। सातवाँ नमन हम भैंस को करते हैं। समुद्र की उफान जैसे तुम्हारे मन को शांत रखे। आठवाँ नमन तुम्हें जन्म देने वाली माता को करते हैं, जिसकी वजह से तुम इस पृथ्वी पर आए। नौवाँ नमन हम हमारे नायक को करते हैं, जिसके तांडे में तू सुख एवं शांति से रहेगा।

वेलकप का लोकगीत खत्म होते ही दूसरे नातरो गाए जाते हैं। वेलकप को प्रथम संस्कार माना गया है। यह विधि शिशु और प्रसूता को नहाने के पहले की जाती है। यह होने तक दोनों को नहलाते नहीं। इसके लिये आवश्यक सामग्री लापसी तैयार करते हैं। लापसी के साथ गुड़ और नारियल की आवश्यकता होती है। सामान एकत्र होने के बाद घर के चूल्हे को चढ़ावा चढ़ाते हैं। यह पूजा विधि सम्पन्न

होने के बाद एक बड़ी सी थाली में पूरा सामान रखते हैं। साथ में मोटे आटे को पीसकर नारियल और गुड़ डालकर उसकी थूली बनाते हैं। तत्पश्चात् उसे गुड़ के साथ पानी में पकाया जाता है, जिसे लापसी कहते हैं। यह एक प्राचीन पूजा विधि है, जिसका सातत्य बंजारा समुदाय में बना हुआ है। लापसी आदि पदार्थों से अग्नि की पूजा की जाती है। यह सामान पाली में रखते हैं। उसमें अगरबत्ती लगाते हैं। पूजा करने वाला व्यक्ति इन खाद्य पदार्थों के निवाले चूल्हे के अंगारे पर घी के साथ रखता हुआ उसे अग्नि में अर्पित करते हैं। सीधे हाथ में पानी लेकर अंगारों के चारों ओर छिड़कते हैं और चूल्हे को नमस्कार करते हैं। यह पूजा विधि दिन में किसी भी समय की जा सकती है। नारियल की कतरन एवं गुड़ लेकर उस परिवार की बड़ी स्त्री आँगन में आकर लोगों को प्रसाद के रूप में बाँटती है। इस समय कुछ स्त्रियाँ नातरो गाती हैं -

मारे... घर आंबेलिया सोये।

मारे... घर ढल दोई चाँद।।

बाळूला आमलाये।

गल रस आम्बलो sss ॥

शिशु जन्म के बाद माता को लापसी खिलाते हैं। लापसी गेहूँ के मोटे पिसे हुए आटे को भूनकर उसमें घी और गुड़ डालकर पानी में उबालकर तैयार किया जाता है। गाढ़ा होने पर उसे खाया जाता है। स्वादानुसार स्त्रियाँ इसमें काजू, बादाम डालती हैं। पौष्टिकता से युक्त लापसी तैयार करते वक्त स्त्रियाँ गाती हैं - बाईये लापसी मा टोपरो घाली काई? बाईये लापसी मा बादाम घाली काई? बाईये लापसी मा काजू घाली काई? बाईये लापसी मा इलायची घाली काई?

शिशु जन्म के पांच दिनों के बाद एक रस्म की जाती है, जिससे घर की लकड़ियों से हवन किया जाता है। इस रस्म को वेवल कहते हैं। प्रसूता के सिर पर पानी से भरे दो लोटे एक दूसरे के ऊपर रखे जाते हैं। फिर एक हँसिया को उसके दाएँ अंगूठे से सात वार स्पर्श कराया जाता है। गेहूँ के सात दाने पानी में भिगो कर माला बनायी जाती है और नवजात शिशु के गले में पहना दी जाती है। अंत में प्रसूता छोटे-छोटे बच्चों को बुलाकर उनके पाँव धोती है और उन्हें प्रणाम करती है। सूतक समाप्त होते ही नामकरण संस्कार किया जाता है। जब शिशु एक वर्ष का हो जाता है, तब उसका मुंडन किया जाता है। कुल - देवता को बलि अर्पित की जाती है। समुदाय के पंचों को लपसी और भोजन कराया जाता है। इस रस्म को जावल कहते है। थोड़ा बड़ा होने पर कान छेदन की रस्म होती है। कर्ण वेधन के समय बायीं भुजा पर सूई से पांच दाग दिये जाते हैं और कुछ मंत्र पढ़े जाते हैं। कन्याओं के यौवनारम्भ से सात दिनों तक उन्हें एक सुनिश्चित स्थान में परिसीमित कर दिया जाता है। उसके बाद यह अपने घर लौट आती हैं।

जन्म संस्कार से जुड़ा एक महत्वपूर्ण लोकगीत है, जिसे एकलपोयु गीद कहा जाता है। यह गीत पुत्र जन्म के अवसर पर गाया जाता है। बंजारों के परिवार में पुत्र जन्म किसी उत्सव से कम नहीं होता है। इस पुत्र को सेवाभाया कहा जाता है। कुछ पंक्तियाँ देखिए -

सेवाभाया जलमों येघर दूयों वजाळो

भगवान जलमों येघर हूयो वजाळो।

याडि बापूरि आसिस ये बेटा जलमों ये

देवू, धरमूरि आसिस ये बेटा जलमों ये।

आचि आचि घड़ी ये सूरज्या जलमों ये

छटी मातार आसिस ये याड़ी घड़ी ये।

चांदा सूरजोरी उमर ये बेटान आसिस ये

माँ-बापेरि रे छडिवेन रिसतू

सेवाभायार आसिस तोनरे बेटा

भगवानेर आसिस तोनरे बेटा।

यह एक तरह का प्रार्थना गीत है, जिससे बच्चे को ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त हो सके। इस लोकगीत में बड़े होने पर बच्चे के अपने माता - पिता तथा समुदाय के रक्षक बनने की प्रार्थना की जाती है। इसमें आने वाले प्रतीक, रूपक तथा लय आदि अर्थपूर्ण होते हैं। इन गीतों के माध्यम से बंजारों का अभिव्यक्ति सौंदर्य तथा उनकी कल्पनाशीलता को देखा जा सकता है। पुत्र जन्म पर होने वाली खुशी इतनी है कि उनको लगता है कि जैसे सारा घर सूर्य के प्रकाश से भर गया है।

बंजारा समुदाय के लोग जन्म के बाद छठी माता की आराधना करते हैं। इसके लिए गाए जाने वाला लोकगीत दलना धोकायेरो कहलाता है। उसके बाद बच्चे को पालने में डालने की रस्म की जाती है। इसे छोरान तोटलाम घोलेरो कहा जाता है। इस गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए -

वेमाता हासती हासती आयेस।/ रोती रोती जायेस।।

लेपो, लावण लेन पर जायेस। /सुवो सुतळी लेन आयेस।।

वेमाता हालन फूलन रकाडेस / सण ढेरो लेन आयेस

वेमाता सुई दोरा लेन पर जा लेन जायेस / सण सुतळी सुवो लेन आयेस।

स्त्री वेमाता अर्थात् प्रसूता से हंसते हंसते घर आने को तथा रोते रोते जाने को कह रही है। इस गीत में लेपो -लावण तथा सुई-धागा शब्दों का प्रयोग उल्लेखनीय है। लेपो लावण बंजारा स्त्रियों के लहंगे को कहते हैं। सुई धागा लमाणी महिलाओं के जीवन से जुड़ा महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। इस लोकगीत की ये पंक्तियाँ कि हँसते आना और रोते जाना भी विशेष उल्लेखनीय है, जिनका अर्थ है यदि लड़की का जन्म हो तो तुम यहाँ से रोते जाना और पुत्र का जन्म हो तो हँसते आना।

बंजारा जन्म संस्कार में जलवा धकाणो की विधि भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। जलवा धकाणो का अर्थ माता द्वारा अग्नि को प्रणाम करना है। इस विधि को सम्पन्न करने के लिये घर के आँगन में एक गड्ढा बनाया जाता है, जिसमें अग्नि प्रज्वलित की जाती है। इस संस्कार में पाँच निर्वस्त्र बच्चे माता के सिर पर पानी भरा घड़ा रखते हैं। माता वह घड़ा लेकर गड्ढे के पास आती है। वहाँ घड़ा रखकर दायें पैर के अँगूठे से पानी को अग्निमय गड्ढे में बहाया जाता है। अग्नि शांत होने के बाद माता अग्निमय गड्ढे को प्रणाम करती है। तत्पश्चात् माता उन बच्चों को कुरल नामक प्रसाद देती है।

छोरोम धुंडेरो नामक रस्म में बच्चे का नामकरण किया जाता है। बाललट्टा काढेरो नामक संस्कार मुंडन संस्कार है। बंजारा समुदाय में जन्म के विविध संस्कार पारंपरिक विधि अनुसार सम्पन्न किए जाते हैं। वर्तमान में जन्म संस्कारों की कुछ विधियाँ लुप्त भी हो रही हैं।

धुंड या धूंड संस्कार बंजारा समुदाय में महत्त्वपूर्ण जन्म विधि मानी जाती है। बंजारों में धूंड विधि अत्यधिक लोकप्रिय है, जिसकी हजारों वर्षों की परंपरा रही है। यह आज भी उत्साह के साथ सम्पन्न की जाती है। तेलंगाना, महाराष्ट्र आदि क्षेत्र में बसे कई टांडों में होली प्रतिवर्ष नहीं जलाई जाती। जिस परिवार में होली से पहले बालक पैदा होता है, वही होली जलवाता है। यदि माता - पिता असमर्थ हों तो टांडे के लोग सहायता करते हैं। धुंड या धूंड के मौके पर होली जलाने के अतिरिक्त टांडे के लोगों को भोज दिया जाता है। आसपास के टांडों से भी लोग भोजन करने आते हैं। धूंड शब्द धूंडा नामक राक्षसी का परिचायक है। आज भी बंजारों में होली का तांत्रिक रूप सुरक्षित है। धुंडा राक्षसी बालकों के लिए अहितकर मानी जाती थी। धुंड के आस-पास घेरकर खड़े होने वालों को गेरिया कहते हैं। होली के तीन-चार दिन पहले भगवान को स्मरण करते हुए निर्धारित स्थान पर

लकड़ी का डांडा खड़ा किया जाता है। उस समय गेरिया लोग गीत गाते हैं।

वस्तुतः धुंड गोर बंजारा समुदाय के सबसे बड़े उत्सवों में एक है। इस दिन गोर बंजारा समुदाय में जन्मे नवजात शिशु को एक सामाजिक शिक्षा के तहत कुछ बातें सिखाने की परंपरा है। उस दिन हाथों में लकड़ी लेकर और साथ में सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे बंजारी भाषा के लोक गीत द्वारा सीख दी जाती है -

शिकच शिकावच, शिकेर राज घड़ावच।

शिके जेरी साज पोली, घियेर पोली।

पहिलो बेटा, नाइकी करिये।

दुसरो बेटा, कारभारी करिय ...

इसका तात्पर्य यह है कि जब गोर बंजारा समुदाय में सन्तान जन्म लेती है, तब हर होली के त्योहार के दिन उसको अपनी बोली में शिक्षा का महत्व और कामकाज की जानकारी दी जाती है। धूंड संस्कार में जावल काढ़णो, होलिका दर्शन, लेमार होली और अन्त में शिशु को एक कम्बल की छाया में माता की गोद में बैठाकर बड़े डंडों पर छोटी - छोटी छड़ियाँ बजाकर आशीष दिया जाता है।

चरीक चरिया चम्पा ढोल

जूजू चराये ले रोला।।

पेलो बेटा नाईकी करीये

दूसरो बेटा कारभार करीये

तीसरो बेटा खादू चराये

चौथो बेटा घेड़ चराये।।

पाँचवें बेटा छेळी चराये

छोंवो बेटा माँ-बाप पोसीये।।

आशय यह है कि संस्कार में शिशु को आशीर्वाद देते हुए उसके कर्म निश्चित करने की प्रथा रही है। समुदाय की धारणा है कि परंपरा के अनुसार पहला बेटा टांडे का नायक बनेगा। दूसरा बेटा टांडे का कारभारी का काम संभालेगा। तीसरा बेटा गौचारण करेगा। चौथा बेटा घोड़ों की देखभाल करेगा। पाँचवाँ बेटा बकरियां संभालेगा और छठा बेटा माता-पिता की देखभाल करेगा।

जन्म संस्कार के बाद लोक जीवन में विवाह संस्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस संस्कार के बाद मनुष्य गृहस्थ जीवन में आगमन करता है। विवाह में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि एक ही गोत्र के सदस्य शादी नहीं कर सकते। उन्हें भाई और बहन माना जाता है, जिसे भाईपन (भाईचारा) कहा जाता है। विभिन्न गोत्रों के सदस्य विवाह कर सकते हैं और इस जोड़े को काई-लागेनी (विवाह कर सकते हैं) के रूप में जाना जाता है। परंपरागत रूप से, भावी जोड़ों के जत्थों की जाँच ढाड़ी भात के रूप में जाने वाले विशेषज्ञों द्वारा की जाती है, जो गोत्र या जात प्रणाली को जानते थे और उचित विवाह की पहचान कर सकते थे। विवाह की परंपरा इस समुदाय में समय के साथ परिवर्तित हो रही है। पूर्व में जब बेटों के अनुपात में बेटियों की संख्या कम थी, उस समय विवाह की शर्त होती थी कि वर पक्ष जब तक वधू पक्ष को ओखली (धान कूटने की ओखली) भर रुपए (उस समय चाँदी के सिक्के प्रचलित थे) नहीं देंगे, तब तक विवाह नहीं हो सकता। विवाह संबंध कम उम्र में ही तय हो जाते हैं। रिश्ता पक्का होने पर सगाई कर देते हैं, फिर साल दो साल में जब जिसकी जैसी गुंजाइश होती है, विवाह किया जाता है।

बारात आगमन पर किसी भी वृक्ष के नीचे वर पक्ष को जनवासा दिया जाता है। जनवासे में बारातियों को कचौड़ियाँ (नाश्ता), गुड़ और रोटी का चूरमा, लड्डू परोसे जाते हैं। दुल्हन के लिए भाँवरे की जो साड़ी लाई जाती है, उसे चार लोग तान कर घर से निकलते हैं और बीच में दूल्हा कटार लेकर निकलता

है। आँगन में चौक, स्वस्तिक बनाया जाता है। हल्दी चढ़ती है, पूजन के पश्चात् घर की महिलाएँ दूल्हे को भेंटती है, जिसे ढावलो काड़ना कहते हैं, जिसमें गीत गाए जाते हैं। विवाह में पंडित का कार्य बड़तिया बंजारा करते हैं। बारात झेलने के बाद भाँवर पड़ती है। विवाह मंडप के लिए कुम्हार से 28 बेई (छोटे मिट्टी के कलश या करवा) लाई जाती है। चारों कोनों में सात - सात बेई लगाई जाती है। आक-ढाक सहित सात प्रकार की लकड़ी लाते हैं, जिन्हें बेई के चारों ओर सजाते हैं। मंडप के बीच दो मूसल (ओखली में कूटने वाली लकड़ी) गाढ़े जाते हैं। इसमें साड़ी या चादर का पर्दा तानकर दोनों तरफ दूल्हा और दुल्हन को बैठाया जाता है। हल्दी लगती है, महिलाएँ गीत गाती हैं। दूल्हा-दुल्हन को नहलाया जाता है, उस समय ढोक्स्या फुड़ाई की रस्म होती है। पहले दुल्हन को नहलाया जाता है, फिर मान्य परम्परानुसार दूल्हे को नहलाया जाता है। चौक पूर कर, स्वस्तिक बनाकर पूजन के बाद भाँवर पड़ती है। साला दूल्हे के कान में कंकड़ गड़ाकर अपनी बहन के पक्ष में बातें मनवाता है कि मेरी बहन से पूछकर बाजार जाओगे। कोई भी काम करोगे तो मेरी बहन से पूछकर करना। यह रस्म अपनी बहन के भविष्य को सुरक्षित रखने की प्रतीक परम्परा है। दूल्हे को सास दुपट्टे से बाँधकर अंदर घर में ले जाती है, पीछे से दूसरी सास मूसल से मारती है। यह इस बात का प्रतीक है कि हमारी बेटी तुम्हारे घर जा रही है, किन्तु उसे कभी अकेली मत समझना, हम सभी मजबूती से उसके साथ खड़े हैं।

विवाह के समय बेटी को उपहारस्वरूप कपड़े (घाघरा - चोली) दिए जाते हैं, जिनकी गिनती भी होती है। माना जाता है कि जिस घर में कपड़ों की संख्या जितनी अधिक होगी, उनकी उतनी मान - प्रतिष्ठा होगी। विदाई के समय दुल्हन को बैल पर बिठाकर मुखिया के घर ले जाते थे। वहाँ वह सबको आशीर्वाद देता है। विवाह भोज में भांग (गुड़- आटे से बना व्यंजन), घुघरी, खिचड़ी, लापसी, सीरा, आमड़या इत्यादि पकवान परोसे जाते हैं। यदि परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर है तो केवल भांग (गुड़- आटे से बना व्यंजन) और घुँघरी बांटकर ही इस परपंरा का निर्वाह किया जाता है।

दूल्हे के घर में दूल्हा-दुल्हन लापसी का हुमन या हवन (आग पर गुड़ - घी डालकर धूप देना) कर कुल देवता की पूजा करते हैं। दूल्हा-दुल्हन एक ही थाली में भोजन करते हैं, ऐसी मान्यता है कि दोनों का आपसी प्रेम बढ़ेगा। इसके बाद माँड खिलाने की रस्म होती है, जिसमें परात में पसई के चावल में सिक्के और कौड़ी को डाला जाता है और दोनों से ढूँढने के लिए कहा जाता है। इस अवसर पर गीत गाए जाते हैं, दूसरे दिन बलि देने की परपंरा भी है, जो अब बदल गई है।

बंजारा समुदाय में जन्म हो या विवाह, कोई भी विधि गीतों के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। हर विधि में घर - संसार को प्रेरणा देने वाले सरस लोकगीत बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। विवाह संस्कार में प्रत्येक अवसर पर बंजारों के खास लोकगीत हैं और उनका सगाई से लेकर विवाह संपन्न होने तक के विविध विधि विधानों से गहरा संबंध है। साथ ही इन गीतों में उनकी जीवन दृष्टि, संस्कृति और मूल्य प्रणाली भी झलकती है। इन गीतों में उनके भाव भी है, पारंपरिक नृत्य भी। अतीत में बंजारा समुदाय में विवाह की विधियाँ अन्य लोक समुदायों के समान दो - तीन महीनों तक चलती थीं। आधुनिक जीवन शैली के प्रभाव से विवाह की विधियाँ तीन-चार दिन में सीमित हो गई है। कुछ महत्त्वपूर्ण विधियाँ आज भी उनके टांडो में सम्पन्न होती हैं, जैसे सगाई, घोटा, साड़ी, बदाई दाग, कलश, हल्दी स्नान, भेंट, हेलेर रपया, लेरिया, कन्यापक्ष एवं वरपक्ष के लोकगीत (बन्ना बन्नी गीत), डॉरल बांधळी, वधू को बाहर निकालना, दावलो आदि। साड़ी विधि

के बाद विवाह स्थली की ओर टांडा छोड़कर वर निकलता है, तो स्त्रियाँ गीत गाती हैं -

राम निकळी तांडेरे भार बाई ये।

रामेरी सेना देको बाइये

दुल्ला निकळो तांडेरे भारं बाई ये दुलारी सेना देको बाई ये।

बारात बड़े ठाट-बाट से विवाह स्थल पर पहुंची है। हर कोई अपने अहंकार में है कि हम घर के बाराती हैं, हमारा खूब मान-सम्मान होगा। वधू के विवाह मंडप के बाहर जब ये बाराती पहुंचते हैं तो कन्यापक्ष की स्त्रियाँ व्यंग्य बाणों से इनका स्वागत करती हैं –

काई चले आव लाड़ार लसकरियां

वनेने बेसेन राजो ये तुटे पलंगिया।

काई चले आ लाड़ार लसकरियां चनेन बेसेन राजीये बोदरियां।

इस तरह की नोक झोंक वरपक्ष और कन्यापक्ष की महिलाओं में चलती है। वधू को हल्दी लगाते समय लाड़ली दुल्हन की खूब प्रशंसा की जाती है -

हलदीनं बेटी ये सीता सतवंती हलदी सोबच ये सोता सतवंती

हलदी लागेरी वेळा

आस लाल मूरत देकेरी वेळा।

जैसे-जैसे समय आगे चलता है, वैसे-वैसे वातावरण और भी भावुक बन जाता है। बंजारों सहित सभी लोक समुदायों में मां-बेटी का गहरा अनुराग है। वधू माता को छोड़कर ससुराल नहीं जाना चाहती। वह रोती हुई गीत गाती है, जिसे सुनकर उपस्थित लोग भी रोने लगते हैं। इस तरह के कई मार्मिक और दुर्लभ लोकगीत बंजारा समुदाय में बड़े परिमाण में मिलते हैं। ये लोकगीत उनकी समृद्ध संस्कृति और पारिवारिक भावनाओं के संवाहक हैं। विदाई के अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं, उसमें दुल्हन के मनोभाव अभिव्यक्त होते हैं। वह अपने माता, पिता, भाई, सखियाँ तथा टांडा के नायकों को संबोधित करते हुए अपने मनोभाव व्यक्त करती है और पराए घर जाने का दुख भी। इस लोकगीत की सबसे बड़ी सांस्कृतिक विशेषता यह है कि दुल्हन हवेली को, गाय, बैल, बकरी को संबोधित करती है और उनसे बिछुड़ने का दर्द गीतों में ढलता है। इस मार्मिक गीत की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं,

हवेली ये आँ हियाँ..

तोती छुटो धोळो घन/ मोतो छुटो मारे जे

बापुरो बंगला आँ हियाँ...

वेसु तो सो कांसेरी वाल न लाग

काड़ी काड़ी कर सासी ये माया जोड़ी

ये हवेली ये आँ हियाँ...

दूध,घी ये रो कालवा चलायेस

अन धनेरी कमी नवेस पाणी पावसेरी

कमी न वेस

ये हवेली ये आँ हियाँ...

गुरु र आसिस देस ये

ये हवेली आँ हियाँ

यह एक सुदीर्घ लोकगीत है। दुल्हन अपनी विदाई के समय हवेली के प्रति हित की कामना करती है कि यहाँ जिस नगर में मेरे पिता की हवेली है, वहाँ दूध - घी की नदियाँ बहे, वहाँ अन्न, धन और पानी की कभी कमी ना आए और इन पर गुरु का आशीष बना रहे। इसका विशिष्ट निहितार्थ है। बंजारों का मूल स्थान राजस्थान है, जो रेगिस्तानी इलाका है, जहाँ पानी की कमी होती है। रेगिस्तान में बदरी का घिर आना और पानी का गिरना अहोभाग्य है। दुल्हन की आकांक्षा है

कि उसके पिता की नगरी में कभी पानी की कमी न हो।

बंजारा समुदाय के संस्कार गीतों में ढावला विशेष उल्लेखनीय है। इसे विदाई के अवसर पर लड़की खास तरह से गाती है। अधिकांश लोकगीत सामूहिक रूप से गाये जाते हैं। ढावला ही ऐसा लोकगीत है, जिसे लड़की अकेली गाती है। टांडे की दक्ष, बड़ी-बूढ़ी औरत, नायकणी, कारभारणी या ढाई साणी लड़की को ढावला सिखाती हैं। वेतडू (वर), लेरिया (लाड़े का मसखरा मित्र) के साथ दुल्हन के घर जाता है। इन्हीं दिनों शुभ-घड़ी देख कर लड़की को ढावला सिखाया जाता है। प्रौढ़ महिलाएं भांग या घोटा के अवसर तक लड़की से बार-बार ढावला गवाती हैं। लड़की को दिन में कई बार आंसू बहाते हुए ऊंचे स्वर में ढावला गाना पड़ता है। जब वह अच्छी तरह गाने लगती है तो उसे एकांत में छोड़ दिया जाता है। संभावित वियोग का जब-जब ध्यान आता है, लड़की ढावला गा गा कर धरती –आसमान एक कर देती है। ढावले में लड़की अपने आंतरिक भावों को प्रकट करती है। मुख्य रूप से इसके तीन भाग होते हैं। प्रथम भाग में दु:ख की अभिव्यक्ति होती है। द्वितीय भाग में पिता के घर को समृद्ध बनाये रखने के लिए लड़की भगवान से प्रार्थना करती है। इस अंश को हवेली कहते हैं। ढावले के तीसरे अंश में लड़की प्रतिज्ञा करती है कि मुझे ससुराल में कितना भी कष्ट मिले मैं अपने माता-पिता तक शिकायत नहीं आने दूंगी। इस भाग को मल कहते हैं।

उदाहरण के लिए तीनों अंश प्रस्तुत हैं। पहला भाग – दु:ख की अभिव्यक्ति, ये या कूण पाळो कूण (सोपो) कूण भोग सक राज हीय्या आ आ... ये याड़ी पाळी। बाप पोसो, सासू भोग सक राज हीय्या आ आ ... (अरे मुझे किसने पाला, किसने मेरा पालन किया, अब मुझे किसे सौंपा जा रहा है। कौन मुझ से सुख भोग रहा है? हाय!) (अरे मां ने पाला है, पिता ने पोषण किया है और सुख का भोग करने जा रही है सास, हाय!)

दूसरा अंश हवेली है, ये हीय्या आ आ...।

तोम आचो च खादी, आचोच पीदी

ये म्हारे नायक बापू री हवेली

वड़ला सूं वदेश, घुलरा सूं फेलेस

लिंबड़ा सूं लहेरेस हरियाली सूं हरी रेस म्हारे नायक बापू री नगरी!

तू घुटेज चाली ये म्हारे नायक नसाबी बापू री नगरी

आचोच खायेस, आचोच पीयेश

हरी-भरी रेयेस ये म्हारे बापू री नगरी हवेली ये हीय्या – आ आ ...

तात्पर्य है कि ओ मेरे प्रिय टांडे, मैंने तुम में निवास करते समय अच्छा खाया, अच्छा पिया। ओ मेरे बाप दादा के टांडे, तुम वट वृक्ष की तरह फलो, गूलर के पेड़ की तरह फैलो, नीम की तरह लहराते रहो, हरियाली की तरह हरे-भरे बने रहो। मैं प्रार्थना करती हूं कि तुम्हारे यहां सब को अच्छा भोजन और पीने को अच्छा पानी मिले। तुम समृद्धशाली बनो, ओ मेरे पितामह टांडे!

इसके बाद मल नामक अंतिम अंश प्रारंभ होता है। इसमें लड़की अपने टांडे के लोगों के सामने प्रतिज्ञा करती है –

रांगो जू नव नवियूं रूपो जू तप जू तप्पियूं

सुंइ रे नाळे मायिन निकळीयूं

तो भी तमन ओळ्भो कोनी आये दूं

म्हारा नायक बापू हीय्या-आ आ ...

ढावले की प्रत्येक पंक्ति के अंत में लड़की ठंडी सांस छोड़ कर दु:खपूर्वक कहती है हीय्या-आ.. कुछ स्थलों पर आहिया भी सुनाई देता है। इस ध्वनि

को ठणको कहते हैं। स्वर ठणके पर जैसे ही पहुंचता है, सुननेवाला अनुभव करता है, कष्ट के कारण लड़की का हृदय फट गया है।

महिलाएं किसी संबंधी की मृत्यु पर भी शोक प्रकट करने के लिए ढावला गाती हैं। इस अवसर पर गाये जानेवाला ढावला दाढ़, दाढ़ द, या मुंडो-मांड कहाता है। इस ढावले में हवेली और मल नहीं होता, केवल शोक प्रकट करने के लिए पहले अंश के साथ यह ढावला समाप्त हो जाता है।

मनुष्य जीवन के अंतिम पड़ाव मृत्यु के अवसर पर भी बंजारा समुदाय में लोकगीत उपलब्ध हैं। यह लोकगीत शोक गीत है, किंतु इनमें एक जो उल्लेखनीय है वह यह कि टांडा के नायक अंतिम संबोधन, वह कहता है -

सामळो भाईयो

गोरमाटी मा एत कावत छ

जिवतेन बाटी

मूयेन माटी

इ जग रूढी छ करन म

रोवामत सासो करोमत

करन केरोचू भाइयों।।

टांडा नायक सभी को संबोधित कर कहता है कि हम सब जानते हैं कि बंजारों में एक कहावत है कि जीवित को बाटी (रोटी), मृतक को मिट्टी। यह तो संसार का दस्तूर ही है, इसलिए रोना नहीं है। अंतिम संस्कार में वर्तमान में दाह संस्कार किया जाने लगा है। पहले जंगल या रास्ते में जहाँ कहीं मृत्यु होती थी, वहीं उसे दफना दिया जाता था, तीन दिन सूतक के बाद तीसरे में शुद्धि की जाती। समीप में जो भी नदी - नाले हो, उसे गंगा मानकर अस्थि विसर्जन किया जाता है। आर्थिक स्थिति के अनुसार तेरहवीं की जाती है। मृत आत्मा को देवी देवता में लेने के लिए दीवाली या होली के पहले धौड़ोधान की रोटी करते हैं। परिवार में किसी मांगलिक कार्य होने के पूर्व यह प्रक्रिया होना जरूरी है। पूर्वजों को मीठी लापसी, घी-गुड़ की धूप दी जाती है। कंडे के अंगार में धोप (धूप) दी जाती है, पानी दिया जाता है।

स्पष्ट है कि बंजारा समुदाय की जीवन शैली, संस्कृति और परंपराओं में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिवार और समाज की धारणाओं, मूल्य और मान्यताओं को सुरक्षित और जीवंत रखते हुए बंजारा जन सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी संस्कारों को हस्तांतरित करते आ रहे हैं। तमाम प्रकार की प्रेरणाओं और नियमन को इनके माध्यम से हकीकत में बदला जाता है। बंजारा समुदाय के संस्कारों से जुड़ी विधियों, लोक गीत और सांस्कृतिक उपादानों के अध्ययन से सिद्ध होता है कि वे मानवीय सम्बन्धों, मूल्यों और संवेदनाओं के साथ परंपरागत ज्ञान के अक्षय स्रोत हैं। इनका जितना मंथन किया जाए, अमूल्य भाव राशि और ज्ञाननिधि प्राप्त होती हैं।

सन्दर्भ

1. चौमासा, वर्ष 36, विशेषांक 114, नवंबर 2020 - फरवरी 2021 में प्रकाशित प्रो. शैलेंद्र कुमार शर्मा का आलेख मध्यप्रदेश की प्रमुख विमुक्त जातियाँ : संस्कृति और परंपराएँ।
2. चौमासा, वर्ष 37, विशेषांक 117, नवंबर 2021 - फरवरी 2022 में प्रकाशित प्रो. शैलेंद्र कुमार शर्मा का आलेख बंजारा : वाचिक परंपराएँ।
3. डॉ श्रीराम शर्मा, बनजारा लोक साहित्य, शर्मा फैमिली चैरिटेबल ट्रस्ट, हैदराबाद, द्वितीय संस्करण, 2017
4. डॉ. गुलाब राठौड़, बंजारा लोकगीत, लेखनी प्रकाशन, नई दिल्ली
5. डॉ हरिसिंह गौड़, ग्राम कंवला, तहसील भानपुरा, जिला मंदसौर से साक्षात्कार।
6. बी. नाइक (2002), बंजारा लंबानिस: देयर आर्ट एंड लिटरेचर, अभिनव पब्लिकेशन्स, आईएसबीएन 978-8170173649

*****

डुग्गर प्रदेश का डोगरी रंगमंच

काजल सूरी
डोगरी लोक गायिका,
आकाशवाणी महानिदेशालय

डोगरी रंगमंच की अगर बात करें तो डोगरी जम्मू की मातृभाषा है। डोगरी भारत में लगभग 50 लाख लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा है जो जम्मू और कश्मीर के जम्मू क्षेत्र में बोली जाती है। डोगरी बोलने वालों को डोगरा कहा जाता है, और डोगरी बोलने वाले क्षेत्र को डुग्गर कहा जाता है। डोगरी की कई उपबोलियां हैं, यह भारत की 22 आधिकारिक भाषाओं में से एक है। इसे 2001 में भारतीय संविधान की 8 वीं अनुसूची में जोड़ा गया था।

समूचे भारत की तरह जम्मू में भी रंगमंच प्रमुख भूमिका में रहा है। तकरीबन चालीस वर्ष पहले जम्मू में थियेटर उस मुकाम पर नहीं था जो उसे आज हासिल है। उन दिनों थियेटर को अजब सी भावना के साथ देखा जाता था।

डोगरी रंगमंच की शुरुआत तो बहुत पहले ही हो चुकी थी। डोगरा राजाओं ने इस विधा को प्रोत्साहित किया था। जम्मू में वर्ष 1860 के आस पास ''रघुनाथ कम्पनी'' नामक एक संस्था की स्थापना की गई, जिसे स्थानीय व्यवस्था की ओर से प्रोत्साहन प्राप्त था। कम्पनी की आर्थिक सहायता धर्मार्थ ट्रस्ट के खातों से की जाती थी। बाद में इसे ही ''रघुनाथ थिएट्रिकल कम्पनी'' में बदल कर दिया गया।

वर्ष 1898 में, महाराजा प्रताप सिंह ने, महाराज हरिसिंह के मुंडन संस्कार के समय बंबई से विक्टोरिया कम्पनी को जम्मू में बुलाया गया, यह पारसी थिएटर की सुप्रसिद्ध कम्पनी थी। "विक्टोरिया कंपनी", मुंबई को, जम्मू में, अपने महल के ग्रीन हॉल में इस समारोह में अभिनय करने के लिए बुलाया। इस बात ने डोगरी रंगमंच को प्रेरित किया। इस कम्पनी को सरकारी खर्च पर जम्मू बुलाया गया था और इन्होंने जम्मू में अनेक नाटकों का प्रदर्शन किया। यह कम्पनी श्रीनगर भी भेजी गई और वहाँ पर भी इसने अनेक नाटकों का मंचन किया। यहीं से पारसी थिएटर का आगाज़ जम्मू-कश्मीर में हुआ। कश्मीर में आगा हश्र कश्मीरी द्वारा लिखित और निर्देशित अनेक नाटकों का मंचन किया गया। जम्मू में भी इसका प्रभाव पड़ा और श्री दीवान ज्वाला सहाय मंदिर के प्रांगण में मंच की स्थापना हुई और साथ ही ''एमेच्योर क्लब'' की स्थापना भी हुई। इस क्लब ने ''दीवान मंदिर रंगमंच'' पर अपने प्रथम नाटक ''चंद्रावली'' का प्रदर्शन किया। 1914 में -सनातन धर्म नाटक समाज- अस्तित्व में आया। जो अपना मंचन, कच्ची छावनी जम्मू में मौजूद ''दीवान-मंदिर'' के मंच से ही करता रहा। आज भी यह मंचन सफलतापूर्वक चल रहा है। 1925-26 में महाराजा हरि सिंह के राज्याभिषेक के लिए कई मंडलियों ने, स्थानीय लोक समूहों सहित, सियालकोट से बाघटन सूरज विजय कंपनी, मुंबई से, एमेच्योर ड्रामाटिक क्लब और कोलकाता से, मदन थिएटर, ने नाटकों के प्रदर्शन प्रस्तुत किए। इस के अतिरिक्त, बाद में, जम्मू में फ्रेंड्स क्लब, कृष्ण ड्रामेटिक क्लब आदि सामने आए। आज़ादी के बाद अनेक परिवर्तन हुए जिनसे रंगमंच की तकनीक पर भी प्रभाव पड़ा।

डोगरी साहित्य के सभी बड़े नामों ने नाटकों को तराशा है। डोगरी का पहला नाटक, सामाजिक व्यंग्य –अच्युत-यानी -अछूत- वर्ष 1935 में विश्वनाथ खजुरिया द्वारा लिखा गया और जम्मु के रामनगर में

मंचित किया गया था। डीसी प्रशांत का लिखा नाटक -देवक जनम- यानी "देव का जन्म", रामनाथ शास्त्री का लिखा नाटक - नयाँ ग्राँ (नया गाँव), दीनू भाई पंत का लिखा नाटक - सरपंच (ऐतिहासिक नाटक), नरेंद्र खजूरिया का -अस भाग जगाने आले आं- राम कुमार अबरोल का लिखा नाटक -देहरी (सामाजिक), वेद राही का लिखा नाटक -धारें दे अत्थरूं -जैसे नाटक लिखे गए। रामनाथ शास्त्री और दीनूभाई पंत, जैसे साहित्यकारों के नेतृत्व में 1944 में गठित डोगरी संस्था ने रंगमंच को बढ़ावा दिया। सांस्कृतिक मंच पर डोगरी भाषा का इतिहास बहुत से नामी ग्रामी लोगों से जुड़ा है। डोगरी में कविता, कल्पना और नाटकीय कार्यों की एक परंपरा है। 18 वीं शताब्दी के डोगरी कवि दत्तू (1725–1780) से लेकर, कवि वेद पाल दीप, पद्मा सचदेव और नाटककार प्रोफेसर राम नाथ शास्त्री, दिनू भाई पंत, प्रोफेसर मदन मोहन शर्मा, डी सी प्रशांत, राम कुमार अबरोल, वेद राही, मदन मोहन शर्मा एन डी जम्वाल, विजय सूरी और फ़िल्मी गायक कुंदन लाल सहगल और अभिनेता ओम प्रकाश, सुन्दर जैसे नाम शामिल हैं। डुग्गर में रंगमंच की परंपरा केवल रामायण के वार्षिक प्रदर्शन तक ही सीमित थी।

ओम प्रकाश जम्मू के दीवान मंदिर में रामलीला में भाग लेते थे। दीवान मंदिर की पौराणिक रामलीला डोगरी की सबसे मशहूर रामलीला हुआ करती थी, जो प्रथा बीच में कई बार टूटी और कई बार वापिस जुड़ी।

समय के साथ डोगरी रंगमंच की अहमियत कम होने लगी। उसकी जगह अब हिन्दी व अन्य भाषाओं ने ले ली थी, लेकिन डोगरी रंगमंच को समर्पित कुछ नाट्य संस्थाएं कई प्रकार के अवरोधों के उपरांत भी डोगरी रंगमंच को प्रोत्साहित करने में लगी रही। 1948 में जम्मू के टिकरी में किसान सम्मेलन में राम नाथ शास्त्री द्वारा लिखित, पंद्रहवीं शताब्दी के वीर शहीद -बाबा जितो- की लोककथा के नाट्य रूप ने डोगरी रंगमंच बढ़ावा दिया, जिसको को डीसी प्रशांत और नरेंद्र खजूरिया ने भी अलग-अलग नाट्य रूप दिया। 1970 के दशक में, कुछ महत्वपूर्ण नाटकों में जतिंदर शर्मा, कविरतन, देश बंधु नूतन डोगरा, नरेंद्र खजुरिया, नरसिंह देव जामवाल, मदन मोहन शर्मा, विजय सूरी और पूरन सिंह के नाटक शामिल थे। पिछले कई वर्षों से डोगरी में लगभग 400 बड़ी और छोटी नाटकों की पूर्ण संख्या शामिल है। इनमें मूल नाटकों के साथ-साथ संस्कृत, अन्य भारतीय भाषाओं के जाने-माने नाटकों और अंग्रेजी से कुछ अनुवाद भी शामिल हैं।

जम्मू और कश्मीर कला अकादमी की स्थापना 1958 में हुई और डोगरा सांस्कृतिक पहचान फिर से उभरी। 1965 में रंगमंच के नए समूह आए। डोगरी संस्था और दीवान मंदिर सांस्कृतिक गतिविधि का केंद्र बन गए। शिराज़ा डोगरी, जम्मू और कश्मीर अकादमी ऑफ़ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजेस द्वारा जारी डोगरी साहित्यिक आवधिक है, जो कि डोगरी संस्था के आधुनिक डोगरी साहित्यिक कार्यों का एक उल्लेखनीय प्रकाशक है। जम्मू में कुछ चुनिंदा रंगकर्मी हैं जो डोगरी के नाटक खेल कर भाषा की पहचान बनाने में जुटे हैं। जिन्होने डोगरी नाटकों को नई पीढ़ी तक लाने के लिए नाटक मंचित किए उनमें विजय सूरी (जिन्हें जम्मू रंगमंच का भीष्म पितामह भी कहा जाता है), पदम श्री ललित मगोत्रा, चमन अरोड़ा, ओम गोस्वामी, ज्ञान सिंह, पदम श्री मोहन सिंह, दीपक कुमार, पदम श्री बलवंत ठाकुर, सुधीर महाजन, कुमार भारती, मुख्य रूप से शामिल हैं। जम्मू और कश्मीर कला अकादमी से आर्थिक सहायता ने अधिकांश समूहों को बनाए रखा और बहुभाषा थिएटर उत्सवों का समर्थन किया। जैसा कि मैंने पहले कहा कि जम्मू में डोगरी मान्यता सदियों पुरानी है और इसके चलते यहाँ का सांस्कृतिक इतिहास भी बहुत सुदृढ़ है। डोगरी रंगमंच की बात की जाए तो बहुत सारे डोगरी भाषा में नाटक लिखे गए हैं और लिखे भी जा रहे हैं, लेकिन बहुत कम नाटक खेले गए हैं। पूरा विश्व आज इस बात को बल देता है की अगर अपने

प्रदेश की पारंपरिक चीजों को रंगमंच से प्रोत्साहित किया जाए तो अपने प्रदेश की भाषा को उससे बल मिलता है। कुछ लेखक अब भी प्रयासरत हैं डोगरी के नाटकों को एक नयी पहचान देने के लिए लेकिन कुछ नाटकों के अलावा, अधिकांश डोगरी नाटक केवल साहित्य के अंश हैं और थिएटर निर्देशकों द्वारा मंचीय नाटकों के रूप में कम पाए जाते हैं। कुछ लोकप्रिय डोगरी नाटकों को छोड़कर जम्मू शहर और प्रांत के अन्य शहरों में मंचित अधिकांश नाटक या तो अन्य भाषाओं के कुछ सर्वश्रेष्ठ नाटकों के अनुवाद या रूपांतरण हैं।

बात यही नहीं खत्म होती, ये मीठी बोली पिछड़ती जा रही है इसकी वजह यह भी है कि नई पीढ़ी में जो तेज़ बदलाव आया है, उस बदलाव ने घरो में या तो हिंदी या फिर अंग्रेजी को प्रोत्साहित किया है। फिर भी कोशिश निरंतर जारी है कि डोगरी भाषा को प्रोत्साहित किया जाए, ताकि इसका चलन देश की अन्य भाषाओं के बराबर हो सके। इसी के चलते, एक मुख्य प्रणाली नाटकों की भी है, जो डोगरी को किसी हद तक जीवंत रख रही है। डोगरी भाषा में नाटक होना जम्मू में एक आम क्रिया है। लेकिन वो भी नाटक सभागार के अंदर तक ही सीमित हैं। कई ऐसे रंगकर्मी हैं, जिन्होंने रंगमंच का सहारा लेकर डोगरी भाषा के उत्थान के लिए जी जान से मेहनत की और कर रहे हैं। युवा कलाकार भी आगे आए, जिन्होने हिंदी रंगमंच के नाटकों को डोगरी में रूपांतरित कर उनके उन नाटकों के प्रदर्शन किए। राम नाथ शास्त्री जी का लिखा बावा जित्तो बलवंत ठाकुर के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया और बहुत सराहा गया। ये डोगरी नाटक देश और विदेश की यात्रा करता रहा है, और अपनी पहचान पूरे विश्व में बनायीं। कई रंगकर्मी डोगरी रंगमंच को राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय मंच पर ले गए हैं। एक तरफ बावा जित्तो, घुमाई, देवयानी, जैसे कुछ नाटक डोगरी मिट्टी में गहराई से हैं, तो दूसरी तरफ नए नवाचार ने, न केवल थिएटर आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया, बल्कि समीक्षकों का ध्यान भी खींचा। डोगरी नाटक -घुमाईं- कलकत्ता के नंदिकार राष्ट्रीय नाट्य महोत्सव में, यह पहला भारतीय नाटक था, जिसे देश के सबसे प्रतिष्ठित थिएटर समारोह में दर्शकों की मांग पर, बार-बार मंचित किया गया था। एक गैर-बंगाली नाटक की ऐसी जबरदस्त प्रतिक्रियाएं, जिसकी भाषा दर्शकों के लिए अलग-थलग थी, यह अपने आप में बड़ी उपलब्धि थी। इसको डोगरी रंगमंच की एक बड़ी सफलता माना जा सकता है।

डुग्गर प्रदेश यानि जम्मू के लोक रंगमंच की बात करें तो फिर से यहीं कहना चाहूँगी कि जीवन और रंगमंच एक दूसरे के पर्याय हैं समाज को रंगमंच और रंगमंच को समाज की हमेशा जरूरत रही है। जम्मू क्षेत्र में लोक रंगमंच के धार्मिक निहितार्थ हैं और रंगमंच के लोकप्रिय प्रदर्शन वे हैं जो महाभारत और महाभारत जैसे भारतीय महाकाव्यों के दृश्य दिखाते हैं। जम्मू की रंगमंच की बात करें तो शुरू-शुरू में लोकमंच द्वारा ही विशेष अनुष्ठानों, मौकों और मेलों में स्वाँग का समाँ बाँधा जाता था। विभिन्न सामाजिक और धार्मिक अवसरों के दौरान पर पारंपरिक नाटक या लोकनाट्य किया जाता था। यह पारंपरिक नाटक या लोकनाट्य प्रांत के सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण तथा धारणाओं को दर्शाता है।

लोक नाटक की बात करें तो लोकनाट्य की सबसे बड़ी खूबी उनका लोकधर्मी होना है। यह मिले जुले समाज का जन मंच होते हैं जिनके जरिए सहज रूप से जनसंचार भी होता है। भारत में इसकी परम्परा काफी पुरानी है। लोक नाटक परंपरा आधारित ग्रामीण रंगमंच को दर्शाता है। लोक नाटक स्थानीय पहचान और मूल संस्कृति में गहरी जड़ों के साथ नृत्य, संगीत और संवाद का मिश्रित कला रूप है। सीधे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि लोक जीवन के लिए रचे गए और मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रसारित होने वाले नाटक को आमतौर पर लोक नाटक कहा जाता है।

लोक नाटकों की उत्पत्ति का मुख्य कारण धार्मिक भावना माना गया है। लोक नाटकों की उत्पत्ति में लोक मनोविज्ञान की प्रवृत्ति को स्वीकार किया है। उनके अनुसार, "किसी भी देश की सामान्य जनता अपने वातावरण तथा रुचि के अनुकूल विनोद का साधन अपने आप निकाल लेती है। इन विनोद साधनों में नाटक सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। ''लोक नाटकों के कई स्रोत हो सकते हैं। जैसे संस्कार गीत, खेल, उत्सव, नृत्य आदि। आदिम जातियों में जादू द्वारा कृषि की उन्नति के लिए शिकार, मत्स्य, बेध, युद्ध आदि का अनुकरण किया जाता है जो कि बहुत दूर तक नाटकीय एवं अभिनयात्मक है''। बलवंत गार्गी के अनुसार, "लोक जीवन और लोक संस्कृति लोक नाटकों की प्रेरणा स्त्रोत है। लोक नाटक जनजीवन के साथ घुला मिला रहता है और समयानुसार बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल अपने आप को ढाल लेता है।"

धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति लोक मनोविनोद विविध सांस्कृतिक अनुष्ठानों के प्रयोजन लोक नाटकों के उद्भव एवं विकास के मूल कारण रहे हैं। लोक नाटकों का अभिनय स्थानीय बोली में होता है। दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग भी इसमें अधिक होता है। इसके देखने और सुनने वालों में आम स्थानीय जनता अधिक होती है, इसलिए उन्हीं की भाषा में संवाद रखे जाते हैं। इसमें संकेतों से भी पर्याप्त काम लिया जा सकता है।

डोगरी रंगमंच को अभी कई मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है, क्या हम अपनी डोगरी कलाओं को संरक्षित कर रहे हैं। डोगरी रंगमंच की बात करें तो बहुत कम ऐसे नाटक हैं, जिन्हें लोक नाट्य शैली में प्रस्तुत किया गया है।

बहुत सी संस्थाएं डोगरी रंगमंच पर काम कर रही हैं, लेकिन लोक नाट्य शैली को बल देने के लिए किसी ने भी नहीं सोचा। कहा जाता है कि कुछ पाने के लिए कुछ खोना पड़ता है। अक्सर कहा जाता है संस्कृति सभी को एक साथ जोड़ती है और हम सब को चाहिए की हम अपनी पुरानी लोक शैलियों को बल दें।

बलवंत ठाकुर द्वारा निर्देशित नाटक बावा जित्तो में कारक, गीतडू, हरन जैसी लोक शैलियां प्रयोग में लायी गयी। युवा वर्ग जो आज डोगरी रंगमंच के उत्थान के लिए कार्य कर रहे हैं। उन्हें चाहिए कि वो लोक नाट्य शैली को साथ लेकर चलें। क्योंकि युवा ही देश का आइना हैं जो आगे चलकर डोगरी रंगमंच को पहचान दिला सकते हैं। राज्य के बाहर से आकर टोलियां अपनी नाटक मंचन करने की विद्या से लोगों का मनोरंजन किया करती थीं।

इन लोक रंगमंच रूपों में संगीत और संवादों का बोलबाला है, लोक नाट्य रूप संगीत, नृत्य और नाटक का मिश्रण हैं।

इन रूपों से लोक रंगमंच और लोक संस्कृति की समृद्धि के अलावा जीवन के प्रति लोगों की झलक मिलती है।

भगताँ

ये लोकनाटक जो जम्मू के कण्डी इलाकों में खेला जाता रहा है उसे भगताँ कहा जाता है। भगत या भगतन रावी नदी के दो किनारों पर आयोजित लोक नाट्य है। डोगरा लोक में भगत लोकनाट्य लोकप्रिय है। कांगड़ा, चंबा और जम्मू इसके प्रदर्शन के प्रमुख केंद्र हैं। आम तौर पर दरबारी विदूषक दरबारियों और सामंतों के मनोरंजन का काम करने वाले व्यक्ति होते थे लेकिन जनता के मनोरंजन के लिए भगतन होते थे। वे सामाजिक महत्व का संदेश देने के लिए एक गाँव से दूसरे गाँव जाते थे ताकि वे दिन भर की मेहनत के बाद आराम का आनंद उठा सकें। इसीलिए शाम के समय लोक नाटक का प्रदर्शन किया जाता था। लेकिन कभी-कभी जमींदारों। या धनी किसानों के निमंत्रण पर दिन के समय भी प्रदर्शन जाता था। विवाह समारोह आदि

रस्मों के दौरान प्रदर्शन के लिए समय का कोई बंधन नहीं था। भगतन क्षेत्र के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मुद्दों से संबंधित लोक रंगमंच का एक रूप है और उनकी आजीविका समाज पर निर्भर थी। भगताँ के किरदार, जिन्हें ''भगतिए'' कहा जाता है, अनेक तरह के स्वाँग रचते हैं। कुटिल नेता, सूदखोर, कपटी सामाजिक घटक, कथित समाजसुधारक और पाखंडी धर्म नेताओं आदि पर इन भगतियों द्वारा किए जाने वाले व्यंग्य और कटाक्ष नाटक का केंद्रबिंदु होते हैं। भगताँ का एक रूप हिमाचल प्रदेश में भी प्रचलित है। इसके लिए किसी मंच की ज़रुरत नहीं होती बल्कि किसी भी मैदान में ऊँचे स्थान पर इसका मंचन होता हैं, मेकअप भी साधारण होता है। ये साधारण कपड़े, टोपी, रस्सियों की बनी चप्पलें आदि पहनते हैं। इन्हें किसी खास संवाद की ज़रुरत भी नहीं होती, आपस की बातचीत में ये खुद ही संवाद बना लेते हैं। कई बार ये लोग, इतने हाजिर जवाब होते हैं कि दर्शकों को भी एक पात्र की तरह मिलाकर उन्हें उकसाते हैं कि वे कुछ कहें। अक्सर दो भगतिए एक समय मंच पर आते हैं। ''भगताँ'' का लोक नाटक रात्रि के समय खेला जाता है। अक्सर गाँव का मुखिया या खुद ''भगतिए'' ही अपनी तरफ से प्रचार कर प्रदर्शन का कार्यक्रम बनाते हैं। कई बार गाँव या कस्बे के अमीर लोग या जिसके घर में कोई अनुष्ठान हो, इन भगतियों को न्योता देते हैं, पर अब इसका प्रचलन खत्म होता जा रहा है।

आम तौर पर दरबारी विदूषक दरबारियों और सामंतों के मनोरंजन का काम करने वाले व्यक्ति होते थे लेकिन जनता के मनोरंजन के लिए भगतन होते थे। वे सामाजिक महत्व का संदेश देने के साथ-साथ एक हल्का माहौल पैदा करने के लिए एक गाँव से दूसरे गाँव जाते थे ताकि वे दिन भर की मेहनत के बाद आराम कर सकें। इसीलिए शाम के समय लोक नाटक का प्रदर्शन किया जाता था। लेकिन कभी-कभी जमींदारों या धनी किसानों के निमंत्रण पर दिन के समय भी प्रदर्शन किया जाता था। विवाह समारोह आदि रस्मों के दौरान प्रदर्शन के लिए समय का कोई बंधन नहीं था। भगतन क्षेत्र के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मुद्दों से संबंधित लोक रंगमंच का एक रूप है और उनकी आजीविका समाज पर निर्भर थी।

जागरणा

यह डुग्गर का विशिष्ट प्रकार का लोकनाट्य है जो परंपरा की दृष्टि से और सुरक्षा की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। यह एक लोक नाटक है जिसके कलाकार और निर्देशक सभी स्त्रियाँ होती हैं। इस लोकनाट्य की नाट्यकर्मी महिलाएँ ही होती हैं और देखने वाली भी महिलाएँ ही होती हैं। पुरुषों को देखने की मनाही होती है। यह दुल्हन-दूल्हे के घर पर किया जाता है जब सभी पुरुष सदस्य विवाह से संबंधित धार्मिक समारोह करने के लिए बरात के रूप में दुल्हन के घर जाते हैं। उस रात सभी स्त्रियाँ आनंद से नृत्य करती हैं और लोक नाट्य का रूप देने के लिए एक दूसरे के साथ विशिष्ट लोक संवादों का आदान-प्रदान करती हैं और इस पूरी प्रक्रिया में एक साधारण वाद्य यंत्र डोल्की और रोरा का उपयोग किया जाता है लड़के की शादी में जब बारात चली जाती है तो घर में स्त्रियाँ रह जाती हैं जो अनेक मुद्राएँ बनाकर नाचती हैं, गाती हैं और अनेक बार बूढ़े, बूढ़ियों, समधिन के प्रेमी, जोकर आदि का स्वाँग रचती हैं। अक्सर दूल्हे के नानके यानि नानी के घर की स्त्रियाँ दूल्हे के दादके यानि दादी के घर की स्त्रियों से छेड़खानी करती हैं और बदले में वैसा ही व्यवहार पाती हैं। चूँकि यह कार्यक्रम गई रात तक चलता रहता है, इसलिए इसे ''जागरणा'' की कहा जाता है। रात भर जागना जो सुरक्षा की दृष्टि से भी उतना ही महत्वपूर्ण है क्योंकि उस समय घर कीमती गहनों और अन्य सामानों से भरा होता है जिसकी सुरक्षा की बहुत आवश्यकता होती है जो इन महिलाओं द्वारा प्रदान की जाती है। इसलिए रंगमंच की यह परंपरा महिलाओं की सुरक्षा के साथ-साथ मनोरंजन का भी काम करती है। यह लोकनाटक आज भी गाँवों और कस्बों में प्रचलित

है, पर कभी-कभी नगरों में भी देखने को मिल जाता है।

टडु- में अक्सर किसी वृद्ध की मृत्यु हो जाने पर उसके ससुराल वाले आकर उस मृत व्यक्ति का स्वाँग रचते हैं। इसमें ससुराल की औरतें बढ़चढ़ कर भाग लेती हैं और गीत जिसे गीतडु कहते हैं, के साथ नृत्य भी किया जाता है। कई बार पुरुष भी इस स्वाँग में भाग लेते हैं।

इस स्वाँग का उद्देश्य शोक में डूबे परिवार को उस स्थिति से उबारना होता था। यह प्रचलन अब लगभग खत्म सा हो रहा है। कहीं दूर दराज़ गाँवों में होता हो तो कहा नहीं जा सकता।

जट्टार

यह इस भूमि की बहुत महत्वपूर्ण नाट्य परंपरा है और विशेष रूप से पहाड़ी क्षेत्रों में अभी भी लोकप्रिय है। यह परंपरा अलौकिक शक्तियों से जुड़ी है जो किसी व्यक्ति पर हमला करती है और ऐसे व्यक्तियों को उचित उपचार देने के लिए होती है। जट्टार का प्रदर्शन होता है जिसमें आम तौर पर एक ढोल को एक वाद्य यंत्र के रूप में प्रयोग किया जाता है और संवाद नाथ (जो ढोल को पीटते हैं) और चेला (जो देवता के रूप में निर्देश देते हैं) थाली के बीच में होते हैं जो शीर्ष पर रखा जाता है। गढ़ा वाद्य यंत्र के रूप में प्रयोग किया जाता है और उसके बाद धूल और बातचीत के आकार में संवाद बीमारों और उन व्यि यों के बीच होते हैं जिन्हें बीमारों को ठीक करना होता है और ये हमेशा ढोल की ताल पर होते हैं। एक चरण आता है जब अलौकिक शक्तियों द्वारा हमला किया गया व्यक्ति ठीक हो जाता है।

हरन

यह लोहड़ी (उत्तर भारत में मनाया जाने वाला एक त्योहार) के अवसर पर प्रदर्शित होने वाली एक अन्य प्रकार की विशिष्ट नाट्य शैली है, जब हिरण का एक मानव मॉडल तैयार किया जाता है और युवा घर-घर जाते हैं और लोहड़ी को पैसे या खाने के रूप में प्राप्त करते हैं और वहां नाट्य का माहौल बनता है। यहाँ भी लोक संवादों का आदान-प्रदान 'स्वांग' या नकल के रूप में होता है। सामूहिक मनोविनोद का साधारण-सा अवसर प्रदान करना है। इसमें तीखी और चुटीली नकलें होती हैं, झलकियों और पहेलियों के अत्यंत रोचक प्रसंग आते हैं, हँसी के ठहाके, हाज़िर जवाबियाँ, फबतियाँ कसना, मज़ाक करना, घौल-धप्पा और कलाबाजियाँ—ये सारी चीज़ें मिलकर एक शानदार नाट्य-प्रदर्शन बना देती हैं। हरण रूप पहाड़ी और अर्ध पहाड़ी क्षेत्र में एक बहुत लोकप्रिय नाट्य रूप है, हालांकि, हरण पूरी रात किया जाता है जिसमें विभिन्न सामाजिक-धार्मिक समकालीन विषयों पर 'स्वांग या नकल' की संख्या प्रस्तुत की जाती है। महिलाओं की भूमिका पुरुषों द्वारा पूरी महिला वेशभूषा और व्यवहार के साथ निभाई जाती है।

जट्टार का प्रदर्शन होता है जिसमें आम तौर पर एक ढोल को एक वाद्य यंत्र के रूप में प्रयोग किया जाता है और संवाद नाथ (जो ढोल को पीटते हैं) और चेला (जो देवता के रूप में निर्देश देते हैं) थाली के बीच में होते हैं जो शीर्ष पर रखा जाता है।

लोकल लोकनाट्यों के अलावा प्रदेश से बाहर की अनेक रास मंडलियाँ यहाँ आती रहती हैं। ब्रज से श्री कृष्ण लीला को मंचित करने अक्सर रास मंडलियाँ यहाँ आती थीं और इसी प्रकार रामलीला दर्शाने के लिए कई मंडलियाँ यहाँ आती रही हैं। इन मंडलियों में स्त्री पात्रों का रोल भी पुरुष ही करते थे। बाद में रियासत में जगह जगह पर रामलीला क्लब बने और अनेक स्थानों पर रामलीला मंचित होने लगी। बसोहली, गढ़ी, ऊधमपुर तथा जम्मू दीवान मंदिर द्वारा मंचित राम लीलाएँ इनके उदाहरण हैं। इन क्लबों द्वारा समय-समय पर अनेक नाटक भी खेले गए।

रामलीला

इस लोकनाट्य का आरंभ तुलसीदास ने मुग़ल काल काशी में किया था। इस नाटक का विषय रामायण की कहानी है, जो दशहरा के दौरान खेला जाता है। यह अमीर, गरीब, बूढ़े या छोटे लोगों के बीच बहुत लोकप्रिय है। यहां तक कि यह जावा, सुमात्रा और इंडोनेशिया में भी प्रसिद्ध है।

रासलीला

इस लोकनाट्य में युवा और बालक कृष्ण की गतिविधियों के नाट्य रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसे जन्माष्टमी के मौके पर कान्हा की इन सारी अठखेलियों को एक धागे में पिरोकर यानी उनको नाटकीय रूप देकर रासलीला या कृष्ण लीला खेली जाती है। इसीलिए जन्माष्टमी की तैयारियों में श्रीकृष्ण की रासलीला का आनन्द मथुरा, वृंदावन तक सीमित न रह कर पूरे देश में छा जाता है। जगह-जगह रासलीलाओं का मंचन होता है, जिनमें सजे-धजे श्री कृष्ण को अलग-अलग रूप रखकर राधा के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करते दिखाया जाता है। लड़किया राधा बनती हैं और उनको कान सखियाँ कहा जाता है।

स्वांग

स्वांग का अर्थ है नकल करना अथवा नाटक करना। किसी रूप में स्वयं को आरोपित कर उसे प्रस्तुत करना ही स्वांग कहलाता है। स्वांग में किसी प्रसिद्ध रूप की न कल रहती है। इस प्रकार स्वांग का अर्थ किसी विशेष ऐतिहासिक या पौराणिक चरित्र, लोक समाज में प्रसिद्ध चरित्र या देवी देवता की नकल में स्वयं का श्रृंगार करना तथा उसी के चरित्र विशेष के अनुरूप अभिनय करना है।

लोकमानस का सही प्रदर्शन स्वांग द्वारा प्रस्तुत होता है। यह ठेठ ग्रामीण मनोरंजन का साधन है। इसका मुख्य लक्ष्य हास्य व श्रृंगार में वृद्धि करना होता है। इसका कथानक पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक व सामाजिक विषयों पर आधारित होता है। यह केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं बल्कि इसके माध्यम से धार्मिक मान्यताओं एवं लोक संस्कृति को भी प्रस्तुत किया जाता है। कई बार स्वांग के माध्यम से सामाजिक समस्याओं पर कटाक्ष प्रधान कथानक भी प्रस्तुत किए जाते हैं। भावनाओं की नम्रता, संवाद की तीव्रता और विशिष्ट परिधान इस स्वांग रंगमंच की प्रमुख विशेषताएं कही जा सकती है।

कुड़

यह जम्मू में सबसे प्रसिद्ध लोक नृत्यों में से एक है जिसे भगवान देवता की आज्ञा मानने और उनका सम्मान करने के लिए रात में किया जाता है। लोग और किसान प्राकृतिक आपदाओं से उनकी रक्षा के लिए 'लोक देवता' और 'ग्राम देवता' को धन्यवाद देने के लिए लोक नृत्य प्रस्तुत करते हैं। डुग्गर प्रदेश के प्रसिद्ध लोक नृत्य में कुड का बड़ा महत्व है। डुग्गर प्रदेश में कुड नृत्य फसल की कटाई के समय किया जाता था। ग्रामीण क्षेत्रों में पूरी रात कुड नृत्य होता था। लोग अपने कुलदेवता को नई फसल का भोग लगाते थे। लेकिन आज युवा पीढ़ी लोक नृत्य से दूर होती जा रही है।

हर साल जम्मू और कश्मीर कला अकादमी की तरफ से एक नाटक उत्सव होता है, जिसमें 15 से 20 नाटक खेले जाते हैं। डोगरी के तीन या चार नाटक भी होते हैं, लेकिन उत्सव खत्म हो जाने के बाद, नाटक कम ही देखने को मिलते हैं।

डुग्गर प्रदेश में डोगरी रंगमंच के क्षेत्र में विकास भी हुआ है। जम्मू के रंगकर्मियों का समर्पण भाव ही है कि आज किसी भी रंगमंचीय परिचर्चा में जम्मू के डोगरी रंगमंच को सम्मान की नज़र से देखा जाता है। तथा जम्मू के निर्देशकों के कार्य को गंभीरता से लिया जाता है।

*****

"स्वस्तिक":भारतीय संस्कृति का चिरंतन और सार्वभौम प्रतीक

डॉ. राजेश्वर कुमार
सहायक आचार्य,
बी. आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय

भारतीय संस्कृति में भावों के प्रकटीकरण के माध्यम के रूप में प्रतीकों का विशेष महत्व आरम्भ से ही रहा है। मूलतः धर्ममूलक संस्कृति होने के कारण प्रतीकों का महत्व और ज्यादा बढ़ जाता है। भारतीय संस्कृति हिन्दू संस्कृति से अभिन्न है और हिन्दू संस्कृति में अनेक प्रतीक हैं, जिनका अपना-अपना विशेष आध्यात्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक महत्व है। "स्वस्तिक" भारतीय संस्कृति का अप्रतिम प्रतीक है, जो अपने सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक संदर्भों के कारण सार्वभौमिक आकर्षण का केन्द्र रहा है। मूलतः भारतीय संस्कृति से उत्पन्न इस प्रतीक को विश्व की अन्य संस्कृतियों ने भी अपने-अपने ढंग से अपनाया है, जिसके पर्याप्त ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। भारतीय संस्कृति के अनेक मूल्यवान पहलुओं को छोड़ भी दिया जाएतो अकेला इस "स्वस्तिक" प्रतीक की विश्वव्याप्ति और वैश्विक स्वीकार्यता इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि भारत सभ्यता और संस्कृति के ऊषा काल से ही अखिल विश्व को दृष्टि देने का काम किया है, जिसके कारण इसे विश्वगुरु माना जाता रहा है।

"स्वस्तिक" शब्द संस्कृत के "स्वस्ति" शब्द से बना है। "सु" एवं "अस्ति" से "स्वस्ति" बना है और संस्कृत व्याकरण के अनुसार "सु" का अर्थ है- शुभ तथा "अस्ति" का- होना। इस प्रकार स्वस्ति का अर्थ हुआ 'शुभ होना, मंगल होना, कल्याण होना इत्यादि। "स्वस्तिक" शब्द सु+अस+क से बना है। 'सु' का अर्थ अच्छा, 'अस' का अर्थ सत्ता 'या' अस्तित्व और 'क' का अर्थ है कर्ता या करने वाला। इस प्रकार "स्वस्तिक" शब्द का अर्थ हुआ अच्छा या मंगल करने वाला। शायद इसलिए भी यह प्रतीक मानव जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि सु अर्थात् सुन्दर, श्रेयस्कर, अस् अर्थात् उपस्थिति, अस्तित्व जिसमें सौन्दर्य एवं श्रेयस का समावेश हो, वह स्वस्तिक है। "वास्तव में, सत्य से शिव और शिव से सुंदर तक की अनथक यात्रा का ही अद्वितीय प्रतीक है-स्वस्तिक।

"ॐ स्वस्ति न इंद्रो वृद्ध-श्रवा-हा स्वस्ति न-ह पूषा विश्व-वेदा-हा ।

स्वस्ति न-ह ताक्षर्यो अरिष्ट-नेमि-हि स्वस्ति नो बृहस्पति-हि-दधातु ॥"

यह पूर्णतः कल्याणकारी भावना को दर्शाता है। देवताओं के चारों ओर घूमने वाले आभामंडल का चिह्न ही स्वस्तिक होने के कारण एवं देवताओं की शक्ति का प्रतीक होने के कारण शास्त्रों में शुभ एवं कल्याणकारी माना गया है। "अमरकोश" में स्वस्तिक

का अर्थ आशीर्वाद, मंगल या पुण्य कार्य करना लिखा है अर्थात सभी दिशाओं में सबका कल्याण हो। इस प्रकार स्वस्तिक में किसी व्यक्ति या जाति विशेष का नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के कल्याण या वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना निहित है। प्राचीन काल में हमारे यहाँ कोई भी श्रेष्ठ कार्य करने से पूर्व मंगलाचरण लिखने की परंपरा थी, लेकिन आम आदमी के लिए मंगलाचरण लिखना सम्भव नहीं था, इसलिए ऋषियों ने स्वस्तिक चिह्न की परिकल्पना की, ताकि सभी के कार्य सानन्द सम्पन्न हों। स्वस्ति मंत्र का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद के ८९वें सूक्तके छठे मंत्र को स्वस्तिवाचन के नाम से जाना जाता है, जो इस प्रकार है:

"ॐ स्वस्ति न इंद्रो वृद्ध-श्रवा-हा स्वस्ति न-ह पूषा विश्व-वेदा-हा ।

स्वस्ति न-ह ताक्षर्यो अरिष्ट-नेमि-हि स्वस्ति नो बृहस्पति-हि-दधातु ॥"

इसी तरह अथर्ववेद में सत्य, शिव और सुन्दर के रंगमंच पर सोम का उन्माद नेत्रों में भरकर दृष्टि संपन्न आर्य ही विश्व सभ्यता के आरंभिक काल में ही कहता है कि:

स्वस्ति मात्र उत पित्रेनोअस्तु

स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्य:

विश्वंसुभूतंसुविदत्रं

नोअस्तुज्योगेवदृशेमसूर्यम् (अथर्व. 1।31।04)

पुराणों में स्वस्तिक को विष्णु का सुदर्शन चक्र माना गया है। इनमें शक्ति, प्रगति, प्रेरणा और शोभा का समन्वय है। इन्हीं के समन्वय से यह जीवन और संसार समृद्ध बनता है। विष्णु की चार भुजाओं की संगति भी कहीं-कहीं सुदर्शन चक्र के साथ बिठाई गई है। स्वस्तिक विष्णु के सुदर्शन चक्र का भी प्रतीक माना गया है। सूर्य का प्रतीक सदैव विष्णु के हाथ में घूमता है। दूसरे शब्दों में स्वस्तिक के चारों ओर मंडल है। वह भगवान विष्णु का महान सुदर्शन चक्र है, जो समस्त लोक की सृजनात्मक, गतिमान एवं चालक सत्ता है। स्वस्तिक की चार भुजाओं को विष्णु के चार भुजा के रूप में माना गया है, जो विकास और विनाश के बीच संतुलन बनाकर सृष्टि को चला रहे हैं। भगवान श्री विष्णु अपने चारों हाथों से दिशाओं का पालन करते हैं। स्वस्तिक का केन्द्र-बिन्दु है, नारायण का नाभि-कमल, यानी सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का उत्पत्ति-स्थल। इससे सिद्ध होता है कि स्वस्तिक सृजनात्मक है। स्वस्तिक शास्त्रीय दृष्टि से `प्रणय' का भी स्वरूप स्वीकृत किया गया है।

"वायवीय संहिता" में स्वस्तिक को आठ यौगिक आसनों में एक बतलाया गया है। यास्काचार्य

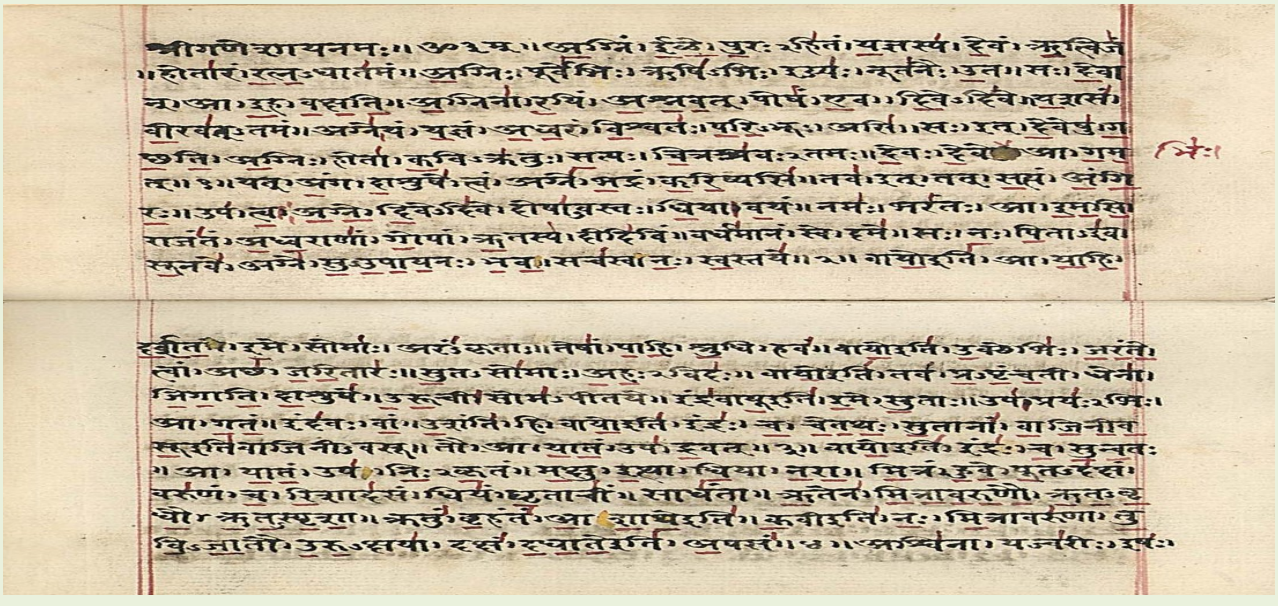

ने इसे ब्रह्मा का ही एक स्वरूप माना है। कुछ विद्वान इसकी चार भुजाओं को हिन्दुओं के चार वर्णों की एकता का प्रतीक मानते हैं। इन भुजाओं को ब्रह्मा के चार मुख, चार हाथ और चार वेदों के रूप में भी स्वीकार किया गया है। "स्वस्तिक" पुस्तक के लेखक श्री विल्हेज के अनुसार यह अधिकार पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम किस देश ने स्वस्तिक का प्रयोग किया लेकिन इतना तो साफ है कि यह विश्वव्यापी प्रतीक है और गौतम बुद्ध से बहुत पहले से भारत में इसका प्रयोग हुआ करता था।

इस विचार से स्पष्ट होता है कि स्वस्तिक का जन्मस्थान भारत है तथा पुरातत्वविदों के प्रयास एवं प्राचीन साहित्यों से भी यह प्रमाणित होता है कि हिन्दू जाति ने ही विश्व के अनेक भागों में इसका प्रचार-प्रसार किया है।इसी प्रकार श्री सतीशचंद्र कालाने ने भी अपनी पुस्तक "मोहनजोदड़ो तथा सिन्धु -सभ्यता" में लिखा है कि मोहनजोदड़ो की खुदाई में स्वस्तिक का चित्रण मुद्राओं में तथा पट्टियों में साक्ष्य के रूप में दिखाई देता है। **सी. जे. ब्राउन** ने अपनी पुस्तक "क्वाईन्स ऑफ इंडिया" में स्वस्तिक चिह्न से युक्त कुछ ऐसे सिक्कों का विवरण दिया है, जो ईस्वी सन से चारसौं साल पहले के हैं। उन सिक्कों पर स्वस्तिक के साथ-साथ बोधि वृक्ष के भी चिह्न अंकित हैं जिससे पता चलता है कि चौबीस सौ साल पहले अशोक के समय में भी भारत में स्वस्तिक का सांस्कृतिक महत्व मान्य था।

वेदों से चली आ रही स्वस्तिक के सांस्कृतिक महत्व की अविरल परंपरा महाकाव्य काल में भी जीवंत और अक्षुण्ण रही है और संस्कृति तथा समाज दोनों में इसकी ख्याति बढ़ी है। विल्हेज का मानना है कि रामायण में ऐसे जहाज का वर्णन मिलता है, जिस पर स्वस्तिक का चित्रण रहता था। महाभारत के सभा पर्व में जरासंध वध प्रकरण में एक ऐसे नाग का उल्लेख आता है जिसका नाम ही स्वस्तिक था। इसी प्रकार शुद्रक द्वारा रचित मृच्छकटिक नाटक में एक पात्र चोर रहता है जो चारुदत के घर में सेंध लगाते समय ऐसा विचार करते हुए चित्रित किया गया है कि स्वस्तिक सेंध लगाएं या कि घड़े के आकार का सेंध लगाएं।

हिन्दू धर्म - ग्रन्थों के अनुसार किसी भी पूजन कार्य का शुभारंभ बिना स्वस्तिक के नहीं किया जा सकता है; चूंकि शास्त्रों के अनुसार श्री गणेश प्रथम पूजनीय हैं, अतः स्वस्तिक का पूजन करने का अर्थ यही है कि हम श्री गणेश का पूजन कर उनसे विनती करते हैं कि हमारा पूजन कार्य सफल हो। हिन्दू संस्कृति में ऐसी मान्यता है कि स्वस्तिक बनाने से हमारे कार्य निर्विघ्न पूर्ण हो जाते हैं। हिन्दू संस्कृति के शास्त्रों के साथ ही साथ लोक में भी स्वस्तिक की खूब प्रतिष्ठा रही है। लोक ने अपने विविध रूपों में इसे अक्षुण्ण बनाए रखा है। किसी भी धार्मिक कार्यक्रम में या सामान्यतः किसी भी पूजा-अर्चना में अपने यहां दीवार, थाली या ज़मीन पर स्वस्तिक का निशान बनाकर स्वस्ति वाचन किया जाता है। ऐसी सांस्कृतिक मान्यता है कि स्वस्तिक धनात्मक ऊर्जा का प्रतीक है, इसे बनाने से हमारे आसपास से नकारात्मक ऊर्जा दूर हो जाती है। इसे हमारे सभी व्रत, पर्व, त्योहार, पूजा एवं हर मांगलिक अवसर पर कुमकुम से अंकित किया जाता है एवं भावपूर्वक ईश्वर से निर्विघ्न कार्य संपन्न होने की कामना की जाती है।

देवपूजन से लेकर विवाह, व्यापार, शिक्षारम्भ, मुण्डन संस्कारसे बही-खाता पूजन तक में भी स्वस्तिक-पूजन आवश्यक माना जाता है। स्वस्तिक का चिह्न वास्तु के अनुसार भी कार्य करता है, इसे भवन, कार्यालय, दुकान या फैक्ट्री या कार्य स्थल के मुख्य द्वार के दोनों ओर स्वस्तिक अंकित करने से किसी की बुरी नज़र नहीं लगती और घर में सकारात्मक वातावरण बना रहता है, इस प्रकार की लोक मान्यताएं हैं।

स्वस्तिक को लेकर हिन्दू लोक संस्कृति में नाना प्रकार के मत - मान्यताएं और मूल्य निर्मित हुए

हैं। स्वस्तिक को धनकी देवी लक्ष्मी का प्रतीक माना जाता है। इसकी चारों दिशाओं के अधिपति देवताओं, अग्नि, इन्द्र, वरुण एवं सोम की पूजा हेतु एवं सप्तऋषियों के आशीर्वाद को प्राप्त करने में प्रयोग किया जाता है। ऐसी सांस्कृतिक मान्यता है किस्वस्तिक का प्रयोग शुद्ध, पवित्र एवं सही ढंग से उचित स्थान पर करना चाहिए। इसके अपमान व ग़लत प्रयोग से बचना चाहिए। शौचालय एवं गन्दे स्थानों पर इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो लोग ऐसा करते हैं उनकी बुद्धि एवं उनका विवेक समाप्त हो जाता है। दरिद्रता, तनावरोग एवं क्लेश में वृद्धि होती है। स्वस्तिक के प्रयोग से धनवृद्धि, गृहशान्ति, रोग निवारण, वास्तुदोष निवारण, भौतिक कामनाओं की पूर्ति होती है तथा तनाव, अनिद्रा, चिन्ता रोग, क्लेश, निर्धनता एवं शत्रुता से मुक्ति भी मिलती है।

ज्योतिष में इस मांगलिक चिह्न को प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, सफलता व उन्नति का प्रतीक माना गया है। ऐसा माना गया है कि मुख्य द्वार पर 6.5 इंच का स्वस्तिक बनाकर लगाने से अनेक प्रकार के वास्तु दोष दूर हो जाते हैं। यह भी मान्यता है कि हल्दी से अंकित स्वस्तिक शत्रु शमन करता है। स्वस्तिक 27 नक्षत्रों को सन्तुलित और समन्वित करके सकारात्मक ऊर्जा प्रदान करता है। यह चिह्न नकारात्मक ऊर्जा को सकारात्मक ऊर्जा में परिवर्तित करता है। इसका भरपूर प्रयोग अमंगल व बाधाओं से मुक्ति दिलाता है। इस प्रकार की न जाने कितनी मान्यताएं स्वस्तिक को लेकर भारतीय लोकमानस में विद्यमान हैं।

हिन्दू संस्कृति के साथ ही जैन परंपरा में भी स्वस्तिक का प्रयोग किया जाता है। जैन अनुयायी स्वस्तिक की चार भुजाओं को संभावित पुनर्जन्मों के स्थल-स्थानों के रूप में मानते हैं। ये स्थल हैं- वनस्पति या प्राणिजगत, पृथ्वी, जीवात्मा एवं नरक। बौद्ध मठों में भी स्वस्तिक का अंकन मिलता है। **जॉर्ज वडंउड** ने बौद्धों के धर्मचक्र को यूनानी क्रॉस को तथा स्वस्तिक को सूर्य का प्रतीक माना है। उनके अनुसार यह अत्यंत प्राचीनतम प्रतीक है, जिसमें गहन अर्थ निहित है। तिब्बत के लामाओं के निवास स्थान तथा मंदिरों में स्वस्तिक की आकृति बनी हुई मिलती है। क्रॉस की उत्पत्ति का आधार ही स्वस्तिक है। बौद्ध धर्म में स्वास्तिक को अच्छे भाग्य का प्रतीक माना गया है। यह भगवान बुद्ध के पग चिन्हों को दिखाता है, इसलिए इसे इतना पवित्र माना जाता है। यही नहीं, स्वास्तिक भगवान बुद्ध के हृदय, हथेली और पैरों में भी अंकित है। हिन्दू धर्म से कहीं ज्यादा महत्व स्वास्तिक का जैन धर्म में है। जैन धर्म में यह सातवें जिन का प्रतीक है, जिसे सब तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के नाम से भी जानते हैं। श्वेताम्बर जैनी स्वास्तिक को अष्टमंगल का मुख्य प्रतीक मानते हैं।

जैनियों के समस्त कर्म - विज्ञान का आधार स्वस्तिक है। जैन दर्शन के अनुसार एक-दूसरे को परस्पर काटने वाली स्वस्तिक रेखाएं पुरुष और प्रकृति की प्रतीक हैं। मंदिरों में पूजा करते समय जैन स्वस्तिक चिह्न का प्रयोग करते हैं और आशीर्वाद तथा स्वस्ति दान में भी वे स्वस्तिक चिह्न का उपयोग करते हैं। भगवान बुद्ध के चरणों में स्वस्तिक की परिगणना होती है। अमरावती के स्तूप में जो बुद्ध पद चित्रित है, उसमें स्वस्तिक चिह्न अंकित है। बौद्ध लोग स्वस्तिक को भगवान बुद्ध के वक्ष का भी एक शुभ लक्षण मानते हैं। भारत के अतिरिक्त चीन और जापान में भी बौद्ध दर्शन के साथ ही साथ स्वस्तिक का भी प्रसार हुआ।

भारतीय संस्कृति में स्वस्तिक के महत्व से किसी भी प्रकार से प्रेरित और प्रभावित होकर अन्य देशों में भी इसे अपने-अपने ढंग से अपनाया गया है। ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में माबरी जाति के लोग स्वस्तिक को अपने जीवन के शुभ प्रतीकों में से एक मानते हैं। जापान में स्वस्तिक "मनजी" कहलाता है। जापान में परम पवित्र पहाड़ फ्यूजियमा के शिखर पर जब तीर्थयात्री पहुंचते हैं, तब उन्हें ऐसे घड़ों का जल पीने के लिए दिया जाता है, जिन पर स्वस्तिक के चिह्न बने होते हैं। उनकी मान्यता है कि यह जल उन्हें

दीर्घायु बनाता है। कोरिया में स्वस्तिक तामझाम और पालकी आदि में चित्रित दिखाई देते हैं। चीन में स्वस्तिक असंख्यता का बोधक और अधिकता एवं समृद्धि का प्रतीक है। चीनी इसे कल्याण, दीर्घायु और प्रकाश का प्रतीक मानते हैं। तिब्बत में लोग अपने शरीर पर ही स्वस्तिक का गोदना गोदवाते हैं। फारस या ईरान में भी स्वस्तिक का प्रयोग प्राचीन है वहां पुरोहित कपड़े पर इस प्रतीक का प्रयोग करते हैं। कैकेय देश में स्वस्तिक परम पवित्रता का प्रतीक माना जाता है।

अल्जीरिया और मिस्र में भी स्वस्तिक की परंपरा का साक्ष्य उपलब्ध होता है। यूनान में मिट्टी, पीतल और सोने के वर्तन पर स्वस्तिक चिन्हों का साक्ष्य मिला है जिससे मिस्रवासियों का विश्वास है कि उनके यहां यूनान से ही स्वस्तिक प्रयोग की परंपरा आई है लेकिन वास्तव में यह भारत से यूनान होते हुए मिस्र तक पहुंची है। इसी प्रकार यूरोपीय देशों में इटली, जर्मनी, स्कॉटलैंड सहित कई देशों में स्वस्तिक प्रयोग की परंपरा दिखाई देती है।

जर्मनी में तो नाजियों ने इसके कई अन्य रूप भी विकसित किए जिसके बाद उनसे इस प्रतीक को जोड़कर इसे काफी विवादास्पद भी बनाया गया और परिणाम यह हुआ कि कई देशों में नाजियों के अत्याचार के कारण इस प्रतीक के प्रयोग पर प्रतिबंध भी लगाए गए। ईसाई लोगों के क्रॉस को भी कुछ लोग स्वस्तिक से जोड़ कर देखते हैं।

इसी तरह पारसी संस्कृति में भी स्वस्तिक का काफी महत्व है। पारसी पवित्र अग्नि संबंधी प्रतीक के रूप में इसे स्वीकार करते हैं। इसी आकार में अग्नि के चारों ओर पारसी घूमते हैं।इसे पारसी लोग चारों दिशा एवं चारों समय की प्रार्थना का भी प्रतीक मानते हैं।

"स्वस्तिक" के संदर्भ में कहा जा सकता है कि मूलतः हिन्दू संस्कृति का यह मंगल प्रतीक "सर्वे भवन्तुसुखिनः" का शंखनाद करता हुआ "वसुधैव कुटुंबकम्" के संदेश से युक्त होकर निखिल विश्व का चिरंतन प्रतीक बन गया। स्वस्तिक चिरंतन सत्य, शाश्वत शान्ति अनंत ऐश्वर्य और सौंदर्य का प्रतीक है। यह सत्यम, शिवम् और सुंदरम का प्रतीक है। इस प्रतीक का उपासक वही राष्ट्र होते आ रहा है, जो दिव्य गुणों और शुभ-संस्कारों से युक्त रहा है। सत्य, शांति और चिरंतन का संदेश सनातन संस्कृति का प्राण - तत्त्व है। सौभाग्य से, भारतवर्ष वैदिक ऋचाओं से लेकर आज तक निरंतरता के साथ विश्व-मंगल का शुभ संदेश का प्रसार कर रहा है, इसलिए "स्वस्तिक" भारतीय संस्कृति का चिरंतन और सार्वभौम प्रतीक बनकर भारतवर्ष के विश्व-गुरुत्व का सदा बोध होता रहेगा।

सन्दर्भ -

- कल्याण पत्रिका का हिन्दू -संस्कृति-अंक,गीता प्रेस,गोरखपुर ।
- वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति: महामहोपाध्याय पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।
- श्रीमती सिन्क्लेयर स्टिवेन्सन् कृत दि हार्ट ऑफ जैनिज़्म, पृष्ठ ५३, ५६ ,९७,२५१ और २७९।
- प्रो० हेल्मुथ ग्लाजेनप कृतजर्मनग्रन्थ 'देर जैनिस्मस ' पृष्ठ ३६२।
- श्री डब्ल्यू.एम.टीप कृत दि सीक्रेट लोर ऑफ इंडिया एंड दि वन परफेक्ट लाइफ फॉर ऑल, पृष्ठ ११४।
- श्रीमती ब्लैवेटस्की कृत 'सीक्रेट डॉक्टराइन' नामक पुस्तक में स्वस्तिक का उल्लेख है।
- श्री बर्डउड् कृत 'स्व' नामक पुस्तक में।
- श्री गेरिनो कृत फ्रेंच ग्रन्थ में।
- श्री एल०डी० मिल्लो कृत 'एनालेस ड्यू मस्क जिनमेन्ट.' नामक फ्रेंच ग्रन्थ में।
- श्री काउंट गोब्ले अल्वील्ला. कृत 'दि माग्रेशन ऑफ सिम्बल्स ।

*****

भारत की आभूषण एवं श्रृंगार संस्कृति: आध्यात्मिक और वैज्ञानिक कारण"

डॉ विशाला शर्मा
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
छत्रपति संभाजी नगर, महाराष्ट्र

आभूषण संस्कृति का इतिहास- भारत अपनी विविधता और संपन्न सांस्कृतिक विरासत के लिए विश्व में जाना जाता है। इस विरासत के कई पहलु हैं, जिसमें आभूषण विशेष महत्व रखते हैं। सदियों से आभूषण भारत की जीवन शैली में रच बस गए हैं। सामान्यतः लोग आभूषणों को सुंदरता, धन, वैभव, शक्ति और समाज में प्रतिष्ठा से जोड़कर देखते हैं, किंतु हमारे सनातन धर्म में बहुत से ऐसे रीतिरिवाज है जिनके पीछे न सिर्फ सांस्कृतिक बल्कि आध्यात्मिक और वैज्ञानिक कारण भी महत्वपूर्ण है। आभूषण हमें ऐतिहासिक काल के भौतिक परिवेश को फिर से देखने में मदद करते हैं और कई पीढ़ियों से संजोई गई सांस्कृतिक बारीकियों को सामने लाते हैं।

आभूषण का अर्थ- आभूषण जो किसी वास्तु के गुणभाव को अलंकृत कर दे। अलंकरण का अर्थ है क्षमता को बढ़ाना। प्रकृति मनुष्य की सहचरणी है जिसमें असंख्य रंग बिखरे हुए हैं। मनुष्य ने पूर्व में स्वयं को फूल पत्तियां से सजाया और फिर धातुओं की खोज हुई। इन धातुओं से बने गहनो के धारण करने पर त्वचा और स्नायु पर दबाव पड़ता है और तन-मन स्वस्थ रहता है इस बात की सत्यता प्रमाणित हुई। इस तरह गहने रोग मुक्ति का साधन बने। संपन्नता और समृद्धि के प्रतीक आभूषण पर ज्योतिष एवं आयुर्वेद ने, रत्न विज्ञान और धातु विज्ञान ने विभिन्न प्रभावों की खोज की और इनका महत्व विश्व व्यापी बना।

आभूषण और वैदिक संस्कृति - वैदिक काल में 36 से भी ज्यादा आभूषण स्त्री और पुरुष दोनों के द्वारा पहने जाते थे। प्राचीन काल की मूर्ति कला में आभूषणों की अनंत परंपरा को हम देख सकते हैं, जिसमें नर-नारी दोनों ही आभूषणों को धारण करते थे। रामायण के प्रसंग से स्पष्ट होता है कि मां सीता जब राजसी वस्त्र और आभूषण को त्याग कर वल्कल धारण कर वनवास के दौरान, राम और लक्ष्मण के साथ अत्रेय ऋषि के आश्रम में जाती है तो माता अनसूया, जो ऋषि अत्रेय की पत्नी थी, सीता को पतिव्रत धर्म का उपदेश देती हैं और उन्हें कुछ आभूषण देती हैं। ये आभूषण न केवल सीता की सुंदरता को बढ़ाते थे, बल्कि उन्हें हमेशा युवती बनाए रखने की भी क्षमता रखते थे। माता उन अलंकारों को धारण करने के लिए कहती हैं और अपनी पुत्री तुल्य सीता को समझाते हुए कहती हैं कि तुम सदैव सुंदर दिखो, पति व्रत धर्म बना रहे तथा आभूषणों की दिव्यता का लाभ और सुख प्राप्त हों। इसलिए देवताओं के द्वारा दिए गए दिव्य आभूषण ग्रहण करो। अपने पति से आज्ञा लेकर सीता समस्त अद्भुत अलंकार पहनती हैं।

श्रीकृष्ण सारे देवताओं में सबसे ज्यादा श्रृंगार प्रिय भगवान है। कृष्ण की सुंदरता का वर्णन विभिन्न धार्मिक ग्रंथों और भक्तों द्वारा किया गया है, जो उनकी सुंदरता को एक दिव्य और अलौकिक अनुभव मानते हैं। उनकी सुंदरता को निखारने में आभूषणों का विशेष महत्व सूर साहित्य पढ़ने के पश्चात परिलक्षित होता है।

कृष्ण वैजयंती माला धारण करते हैं। यह माला प्रेम, स्नेह और जीवन में स्थिरता का प्रतीक है। कृष्ण की दोनों भुजाओं पर माता यशोदा ने रक्षा के लिए बाजूबंद बाँधे हैं। श्री कृष्ण के बाजूबंद को 'रंगदा' कहते हैं। उनकी चूड़ियों को 'कंकणा' कहते हैं;

उनकी अंगूठी को 'रत्नमुखी' कहते हैं। कृष्ण की कमर की पट्टी को 'कला झंकार' कहा जाता है और उनके घुंघरू को 'हंसगंजना' कहा जाता है। श्री कृष्ण की मणि को 'कौस्तुभ' कहा जाता है। जब उन्होंने कालियाह्रद में प्रवेश किया था तब नागों की पत्नियों ने अपने हाथों से उन्हें यह मणि भेंट की थी।

महाभारत के वीर योद्धा कर्ण को आभूषण के रूप में सूर्य देवता से प्राप्त कवच और कुंडल न केवल उनके व्यक्तित्व का हिस्सा थे, बल्कि उनकी शक्तियों और दानवीरता का भी प्रतीक थे। ये कवच और कुंडल इतने शक्तिशाली थे कि इन्हें कोई भी शस्त्र भेद नहीं सकता था और जब तक कर्ण इन्हें धारण किए रहते, तब तक उन्हें कोई पराजित नहीं कर सकता था।

भारत में सिंधु घाटी की सभ्यता के समय आभूषणों का प्रचुर मात्रा में प्रचलन था। प्रमाण के रूप में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जैसे स्थलों की खुदाई के दौरान जिसमें सोने—चांदी, तांबे, कीमती पत्थरों के आभूषण प्राप्त हुए हैं। जहां पुरुष और महिलाएं समान रूप से हार, कर्णफूल, बाली, चूड़ियां, अंगूठी, करधनी, पायल पहनते थे। आभूषणों को प्राचीन काल से ही विशेष माना गया है। राजा-महाराजाओं के परिवार में भी आभूषणों को पीढ़ी दर पीढ़ी पहनने का रिवाज था। व्यक्ति की सामाजिक और आर्थिक स्थिति के साथ-साथ शक्ति के प्रतीक के रूप में भी आभूषणों का इस्तेमाल किया जाता रहा है। उस समय रेशम से बने वस्त्रों पर भी सोने और चांदी से बेल बूटे बनाए जाते थे। प्राचीन समय से भारत में पगड़ी पहनने का रिवाज है, जिसका मुख्य उद्देश्य सम्मान, सुरक्षा और पहचान है। प्राचीन समय में पगड़ी के आभूषण सत्तारूढ़ राजवंशों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बनते थे। प्रत्येक विशेष राजा द्वारा पहनी जाने वाली पगड़ी के आभूषणों में भारत के उस विशेष भाग में मौजूद आभूषण निर्माताओं के रत्न और उम्दा कलाकृति का विकल्प था। आज भी रोजमर्रा की ज़िंदगी में अनिवार्य कुछ एक आभूषण के साथ-साथ विवाह और उत्सव में आभूषणों का विशेष महत्व होता है। हर युग में निर्मित आभूषणों की कारीगरी भारत के कारीगरों के शिल्प कौशल को दर्शाती है। प्राकृतिक तत्वों के साथ-साथ सोना, चांदी, प्लैटिनम, हीरे, तांबे, रंग-बिरंगे पत्थरों, नवरत्न, लाख, हाथीदांत, मोती सीप से आभूषण निर्मित किए जाते थे।

भारत के हर राज्य में अलग-अलग सांस्कृतिक पहचान के लिए आभूषण उस क्षेत्र की विशिष्टता, परंपरा और रीति रिवाज को दर्शाते हैं। धातुओं से बने गहनें बहुत लंबे समय तक सकारात्मक ऊर्जा को बनाए रखते हैं। साथ ही मन को प्रसन्न और सौंदर्य को बढ़ाने के भी सहायक होते हैं।

भारत के विभिन्न राज्यों में आभूषण संस्कृति

प्रत्येक राज्य की आभूषण शैलियां और उस शैली में बने आभूषण भारत की समृद्ध सांस्कृतिक पहचान है। भारतीय गहनों की चमक विदेशों तक फैली है। भारत का हस्तशिल्प कौशल अद्भुत है।

केरल को सोने की भूमि के रूप में जाना जाता है। यहां सबसे लोकप्रिय आभूषणों में 'कांसुमाला' पहनी जाती है। गहनों में यहां मंदिर और देवी देवताओं की मूर्ति से सजी कलाकृति प्रसिद्ध है। तमिलनाडु में सोने के साथ-साथ कीमती पत्थरों और टेंपल ज्वैलरी का विशेष स्थान है। यहां ओडियानम या कमरबंध गहनों में विशेष स्थान रखता है। 'झुमके' दक्षिण भारत में अत्यंत लोकप्रिय हैं, ये कानों को सजाते हैं और एक्यूप्रेशर बिंदुओं पर काम करते हैं।

कर्नाटक में बाजूबंद का विशेष महत्व है, जो समृद्धि और सफलता का प्रतीक है। मध्य प्रदेश में कई प्रसिद्ध स्वर्ण आभूषण हैं, लेकिन 'थेवा आभूषण' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'थेवा आभूषण' मंदसौर जिले में बनाया जाता है। यह 23 कैरेट सोने में कांच पर पिरोकर बनाया जाता है। इसके अलावा, रीवा और

इंदौर जिलों में लाख के आभूषण भी प्रसिद्ध हैं, जिनमें चोकर और झुमके जैसे डिज़ाइन शामिल हैं।

राजस्थान अपनी जीवंत और रंगीन संस्कृति के लिए जाना जाता हैं। यहां कुंदन और मीनाकारी के आभूषण बहुत प्रसिद्ध हैं। यहां के प्रसिद्ध आभूषणों में बोरला या रखड़ी, जो एक प्रकार का 'मांग टिका' होता है, पहना जाता है। यह आभूषण राजस्थान की संस्कृति और परंपरा का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। मांग के बीच में पहना जाने वाला 'गोलाकार आभूषण'। यह आज्ञा चक्र पर कार्य करता है और विवाहित स्त्री के सम्मान का प्रतीक है। हसली, सटका, टुस्सी हाथी दांत की चूड़ियां यहां पहनी जाती हैं।

पश्चिम बंगाल में शाखा पोला बंगाली दुल्हन को पहनायी जाने वाली चूड़ियां होती हैं। महाराष्ट्र में कोल्हापुरी साज पत्थरों और मोतियों से जड़ा होता है। यहां का अंबाडा बालों में बनाया जाता है और उसमें सोने, चांदी की पिन लगाई जाती है। महाराष्ट्र की मोती की नथ काजू के आकार की अर्थात 'अर्धचंद्राकार' होती है।

गुजरात में कंदोरा कमर में पहने जाने वाला आभूषण है। छत्तीसगढ़ में इसे 'करधनी' कहा जाता है। झारखंड में हसूली अर्थात सोने का हार पारंपरिक आभूषण है। हरियाणा में चूड़ी के आकार की नथ नाक में पहनी जाती है। जम्मू और कश्मीर में 'देझारू' सोने की बोलियों की जोड़ी होती है। त्रिपुरा में सिक्कों के बने हार पहने जाते हैं। अरुणाचल प्रदेश में अर्धचंद्र आकार का हार, मणिपुर में खुडोल गले का हार, मेघालय में दकसारे, मिजोरम में स्वर्ण आभूषण शैली पुआन, नागालैंड में तांती, सिक्किम में डुंगकैंपा, यह सभी गले में पहने जाने वाले पारंपरिक हार हैं। उत्तराखंड में नथुली सोने की नाक की नथ सुंदरता बढ़ाने और निखारने में सहायक हैं।

विभिन्न रत्नों एवं धातुओं के गुण और मानव शरीर पर प्रभाव- भारत में हीरे के आभूषण युवा पीढ़ी में विशेष आकर्षण का केन्द्र बने हुए हैं। हीरा आकर्षक प्रभावशाली और आत्मविश्वास में वृद्धि करने वाला माना जाता है।

मानसिक शांति और आत्मविश्वास बढ़ाने के लिए मोती भी धारण किया जाता है। मोती पहनने से क्रोध और चिड़चिड़ापन कम हो जाता है। मोती नकारात्मक ऊर्जा को कम करने और सकारात्मक ऊर्जा को आकर्षित करने वाला माना जाता है। आभूषणों में लगाए जाने वाले नौ रत्नों को 'नवरत्न' कहा जाता है। माणिक, मोती, पन्ना, हीरा, मूंगा, गोमेद, लहसुनिया, नीलम और पुखराज का प्रयोग आभूषणों में किया जाता है। ज्योतिष विज्ञान के अनुसार रत्नों का सकारात्मक प्रभाव मानव शरीर पर होता है।

मनुष्य के शरीर में अनेक धातु का समावेश होता है। स्वर्ण, चांदी, लोहा, तांबा और इतना ही नहीं यह धातुएं मनुष्य के शरीर को संतुलित रखते हैं। मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी प्रभाव डालती है। इसलिये सोना, चांदी, तांबा, लोहा, कांसा, पीतल आदि धातुओं के आभूषण पहनने चाहिए। सोना शरीर की आभा और ऊर्जा के साथ-साथ बेहतर प्रतिक्रिया देता है। सोना पहनने से व्यक्ति के शरीर में स्फूर्ति और ताज़गी बनी रहती है और उस व्यक्ति के चेहरे की चमक बढ़ती है। स्वर्ण भस्म औषधि के रूप में असाध्य रोगों को दूर करने के लिए सहायक है।

चांदी के पात्रों एवं आभूषण में औषधीय गुणों के साथ-साथ आध्यात्मिक गुणधर्म होते हैं। इसकी प्रवृत्ति ठंडी होती है और इससे कई प्रकार की स्वास्थ्य संबंधी समस्या दूर हो जाती है। चांदी धारण करने पर मन की स्थिरता प्राप्त होती है। तांबा धातु शरीर का रक्त संचालन करने में प्रभावी हैं। तांबे के पात्र में रखे जल का नित्य प्रयोग करने से शरीर शुद्धिकरण होता है। इससे पाचन तंत्र भी ठीक रहता है। त्वचा संबंधी परेशानियां दूर होती हैं। तांबे के आभूषण स्त्रियों के लिए विशेष लाभकारी सिद्ध होते हैं। शरीर को विषमुक्त करने में पेट संबंधी समस्या से मुक्ति पाने के

लिए तांबे के पात्र एवं जल पीने की विशेष सलाह दी जाती है।

विषाणु और जीवाणु को मारने की क्षमता रखने का गुण कांसे में पाया जाता है। प्राचीन काल से आठ भाग ताम्र, दो भाग रांगा मिलाकर कांसा बनाया जाता है। आयुर्वेदिक चरक संहिता में भगवान की मूर्तियां, घंटी, औषधि के उपयोग के रूप में कांसे के प्रयोग का वर्णन दिखाई देता है। विवाह के अवसर पर आज भी कन्या पक्ष की ओर से वर पक्ष को कांसे की थाली कटोरी लोटा भेंट करना शुभ माना जाता है।

प्राचीन काल से लोहे के बर्तन का प्रयोग भोजन बनाने के लिए किया जाता है। लाल रक्त कोशिकाओं के निर्माण और शरीर में ऑक्सीजन के परिचालन/संचरण के लिए आवश्यक है। लोहे के बर्तन में खाना बनाने से भोजन में लोह तत्व की मात्रा बढ़ जाती हैं। लोहे के पत्रों में बना भोजन नकारात्मक ऊर्जा से बचाव और शारीरिक शक्ति में वृद्धि करता है। ऐतिहासिक रूप में लोहे से बने अस्त्र को युद्ध के दौरान सुरक्षा के दृष्टि से भी पहना जाता है।

खाना बनाने के लिए पीतल के धातु बर्तन आज भी लोकप्रिय विकल्प है। यह एक मज़बूत और टिकाऊ धातु है, जिसे भोजन में प्राकृतिक स्वाद बना रहता है। मिट्टी से बने बर्तन मानव इतिहास में सबसे पुराने अविष्कार में से एक अविष्कार है। यह प्राकृतिक होते हैं। मिट्टी के मटके का पानी आज भी प्रत्येक घर पिया जाता है, जिसमें सभी खनिजों और विद्युत चुंबकीय ऊर्जा के उपचारार्थ गुण पाए जाते हैं। शरीर के विभिन्न अंगों पर आभूषण धारण करने का महत्व

कर्ण फूल- कर्ण छेदन संस्कार, जिसे कर्णवेध संस्कार भी कहा जाता है, हिंदू धर्म में एक महत्वपूर्ण संस्कार है। यह बच्चों के कान छेदने की रस्म है और इसे 16 संस्कारों में से एक माना जाता है। इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य बच्चे के स्वास्थ्य, बौद्धिक विकास और आध्यात्मिक उन्नति में सहायता करना है।

यह संस्कार बच्चे की मेधा शक्ति (बुद्धि) को बढ़ाता है और उसे ज्ञान प्राप्त करने में मदद करता है।

कर्णफूल चेहरे की खूबसूरती को निखारते हैं। कान का केंद्र बिंदु वह स्थान है, जहाँ दृष्टि का केंद्र स्थित होता है। इसलिए इन बिंदुओं पर दबाव डालने से दृष्टि में सुधार होता है।

मंगलसूत्र- भारतीय संस्कृति में नारी को शक्ति, संस्कार और सौंदर्य का प्रतीक माना गया है। विवाह के बाद जो आभूषण विवाहित स्त्री धारण करती है, उन्हें 'सौभाग्य आभूषण' कहा जाता है। ये गहने न केवल उसकी विवाहित अवस्था का संकेत देते हैं, बल्कि उसके स्वास्थ्य, मानसिक ऊर्जा और पारिवारिक सौहार्द का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। महिलाओं के सौभाग्य आभूषणों में सबसे महत्वपूर्ण आभूषण गले में वर के द्वारा वधु को पहनाया जाने वाला मंगलसूत्र हैं, जिसे पहनने के पीछे धार्मिक और आध्यात्मिक महत्व के साथ-साथ कुछ वैज्ञानिक कारण भी माने जाते हैं। यह माना जाता है कि मंगलसूत्र में लगे काले मोती नकारात्मक ऊर्जा को अवशोषित करते हैं और पति-पत्नी के रिश्ते को बुरी नजर से बचाते हैं। मंगलसूत्र जीवन भर एक सूत्र में बंधे रहने का संदेश देता है। शारीरिक ऊर्जा का क्षय होने से बचाता है।

अंगूठियां- आभूषणों की अपनी चमक होती है। भारतीय महिलाओं के बीच इसका विशेष महत्व है, इसलिए अंगूठियों की भी विशिष्ट विशेषताएँ हैं। अंगूठियां स्त्री और पुरुष दोनों धारण करते हैं। हम जानते हैं कि अंगूठियाँ श्रृंगार के लिए पहनी जाती हैं, लेकिन इसके पीछे का कारण यह है कि अंगूठियाँ अनामिका में इसलिए पहनी जाती हैं, जिसमें एक तंत्रिका होती है, जो मस्तिष्क के न्यूरॉन कोशिकाओं के माध्यम से हृदय से जुड़ी होती है और अंगूठे की अंगूठियाँ भी आनंद हार्मोन बढ़ाती हैं। जबकि, बीच की उंगली में नहीं पहनी जाती क्योंकि मध्यमा उंगली

में तंत्रिका मस्तिष्क की विभाजक रेखा से होकर गुजरती है। जब व्यक्ति अंगूठे में अंगूठी पहनता है, तो इससे अनामिका उंगलियों के बीच धातु का घर्षण होता है, जो स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है।

नथ- नथ, नाक में पहने जाने वाले आभूषण है। वास्तव में नाक छिदवाना वैदिक चेहरे के संकेतन में पाया जाता है, जिसे मुद्रा कहा जाता है और हज़ारों सालों से इसका उल्लेख इस रूप में किया जाता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में बाईं नाक (जो महिला प्रजनन अंगों से जुड़ी होती है) पर आभूषण पहना जाता है। जबकि मध्य पूर्व और अफ्रीका में, नाक की अंगूठी धन और स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है। दुनिया भर में विभिन्न स्वदेशी जनजातियों द्वारा इसका अभ्यास किया जाता रहा है, जिनमें से प्रत्येक का अपना अर्थ और महत्व है। इसका वैज्ञानिक संबंध मासिक धर्म के दर्द और प्रसव की परेशानी को कम करने के लिए माना जाता है। कुछ लोगों का मानना है कि छिदी हुई नाक वाली महिलाओं को प्रसव के दौरान कम दर्द होता है। नाक छिदवाने से श्वसन प्रणाली मजबूत होती है। भारत के हर राज्य में अलग-अलग आकार की नथ, जिसे विशेष समारोहों में पहना जाता है। यह नारी की सांस्कृतिक गरिमा को दर्शाती है।

चूड़ियां अथवा कंगन- चूड़ियां रक्त परिसंचरण में सहायक होती है। महिलाएं कलाई में चूड़ियां पहनती हैं, जो घर्षण पैदा करती है। चूड़ियों से उत्पन्न ध्वनि मस्तिष्क को आराम पहुंचाती है। कांच की हरी चूड़ियां, लाख, हाथी दांत की चूड़ियाँ हाथ भरकर पहनी जाती हैं। लाल और हरे रंग की चूड़ियाँ स्त्री के सौभाग्य और प्रेम का प्रतीक मानी जाती हैं। चूड़ा पंजाबी संस्कृति में एक महत्वपूर्ण प्रतीक है, जो दुल्हन के वैवाहिक जीवन और समृद्धि से जुड़ा है, जो लाल और सफेद रंग का होता है। राजस्थान में लाख का हरा और लाल चूड़ा पहनाया जाता है। दक्षिण भारत एवं महाराष्ट्र में दुल्हनों के लिए हरे रंग की कांच की चूड़ियाँ ज़रूरी होती हैं, क्योंकि यह रंग उर्वरता, समृद्धि और नई शुरुआत से जुड़ा है। दुल्हन के माता-पिता उसे हरे रंग की चूड़ियाँ उपहार में देते हैं, जिन्हें वह अपनी शादी की सोने की चूड़ियों के साथ पहनती हैं। बंगाल में सफेद (शंख) और लाल (पोला) चूड़ियाँ, जो विवाह के बाद स्त्रियाँ पहनती हैं। ये सौभाग्य, सुरक्षा और सामाजिक पहचान का प्रतीक हैं।

चांदी की बिछिया व पायल- चांदी की बिछिया व पायल धार्मिक एवं आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होती है। पायल के घुंघरूओं के कंपन से सकारात्मक ऊर्जा उत्पन्न होती है। गर्भाशय संबंधी नसें सक्रिय होती हैं। पैर की अंगूठियों को 'बिछिया' के नाम से भी जाना जाता है, जिसे आमतौर पर विवाहित महिलाएं पहनती हैं। आयुर्वेद के अनुसार पैर की दूसरी उंगली की नस सीधे महिलाओं के गर्भाशय से और दिल से जुड़ी होती है। भारतीय महिलाएँ दूसरी ऊँगली में अंगूठियाँ पहनती हैं। चांदी के पायल जोड़ों के दर्द से राहत दिलाते हैं, और शरीर के तापमान को नियंत्रित करते हैं।

हाथफूल- कलाई से अंगुलियों तक जुड़ा गहना जो संपूर्ण हस्त सौंदर्य को दर्शाता है।

कमरपट्टा करधनी अथवा कंदोरा- यह कमर पर बांधा जाता है और शरीर की मुद्रा को संतुलित करता है। कमर के आसपास वजन बढ़ाने से रोकता है।

श्रृंगार साधनों का वैज्ञानिक महत्व- कुछ श्रृंगार, जैसे काजल, चंदन, महावर, मेहंदी, बालों में गजरा या फूल लगाना सुगंधित उबटन, इत्र का शरीर पर औषधीय प्रभाव पड़ता है।

सिंदूर- भारतीय संस्कृति में विवाहित स्त्रियां अपने मांग में सिंदूर लगाती हैं। सुहाग का प्रतीक 'सिंदूर' पति की लंबी उम्र और अच्छे स्वास्थ्य के लिए उस स्थान पर लगाया जाता है। जहां ब्रह्मरंध होता है, जिससे ऊर्जा का संचार होता है। सिंदूर लगने से एकाग्रता बढ़ती है। मानसिक स्वास्थ्य पर सकारात्मक

प्रभाव पड़ता है। अनिद्रा, सरदर्द और अन्य स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं कम होती हैं।

कुमकुम

कुमकुम माथे के आज्ञा चक्र पर लगाया जाता है। आज्ञाचक्र मन और आत्मा का केंद्र माना जाता है। मस्तिष्क के बीच में स्थित यह एक महत्वपूर्ण बिंदु है। दोनों भौहों के बीच माथे पर लगाए जाने वाला लाल 'कुमकुम' को त्रिनेत्र का प्रतीक माना गया है। दोनों नेत्रों को सूर्य व चंद्रमा माना गया है, जो वर्तमान और भूतकाल देखते हैं और तीसरा नेत्र भविष्य में आने वाले संकेतों की ओर इशारा करता है। आज्ञा चक्र पर पुरुषों के द्वारा भी हमारे भारत देश में कुमकुम, सिंदूर, अष्टगंध चंदन का तिलक भी लगाया जाता है, जिससे एकाग्रता बढ़ती है। तिलक लगाने से चेहरे की मांसपेशियों को रक्त की आपूर्ति बेहतर होती हैं। आत्मविश्वास में वृद्धि होती है।

मेहंदी

हाथों और पैरों में मेहंदी लगाने की प्रथा भारत में सदियों से चली आ रही है। मेहंदी का प्रयोग सामान्यतः त्वचा से संबंधित कई समस्याओं जैसे खुजली, एलर्जी, पित्तिका, घावों आदि के उपचार के लिए किया जाता है। मेहंदी बालों के लिए भी उपयोगी होती है। मेहंदी की खुशबू और शीतलता मानसिक तनाव को कम करने और मन को शांत करने में भी मदद करती है। शरीर को ठंडक प्रदान करती है। शादी से पहले दुल्हन को मेहंदी, हल्दी, उबटन लगाने की रस्म एक महत्वपूर्ण और शुभ अवसर होता है, जो कई कारणों से निभाई जाती है। यह न केवल एक पारंपरिक प्रथा है, बल्कि इसका धार्मिक, सामाजिक और वैज्ञानिक महत्व भी है। मेहंदी को सौभाग्य और समृद्धि का प्रतीक माना जाता है।

आलता या महावर

उत्तर प्रदेश एवं बिहार में आलता या महावर लगाया जाता है जो गहरे गुलाबी रंग का होता है, जो पैरों की सुंदरता को बढ़ाता है और इसे एक पारंपरिक श्रृंगार माना जाता है। इसे लाख से बनाया जाता था, लेकिन अब इसे चुकंदर के पत्तों या सिंदूर से भी बनाया जाता है। आलता को शुभता का प्रतीक माना जाता है, और इसे विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों और त्योहारों में लगाया जाता है। आलता में एंटीफंगल गुण होते हैं और यह पैरों को ठंडक पहुंचाता है।

फूल

बालों में फूल लगाना या गजरा लगाना एक प्राकृतिक श्रृंगार है। फूलों की महक तनाव कम करती है। फूलों की खुशबू से धैर्य और ताजगी मिलती है।

काजल

काजल के बिना श्रृंगार अधूरा माना जाता है। आंखों की सुरक्षा की दृष्टि से घर में बनाया गया बादाम और गाय के घी से निर्मित काजल आंखों को ठंडक देता है। चांदी की डिबिया में काजल बनाकर रखा जाता है, जिससे चांदी की शीतलता आंखों की गर्मी को शोषित कर लेती है।

काजल लगाने पर नुकसानदायक सूर्य की किरणों से, धूल मिट्टी से बचाव होता है। काजल के उपचारात्मक गुण आंखों के लाल धब्बों को कम करते हैं। हमारे घरों में छोटे बच्चों की आंखों में काजल लगाने की परंपरा बहुत पुराने समय से चली आ रही है। माना जाता है कि इससे बच्चों को बुरी नज़र नहीं लगती है और उनकी आंखें बड़ी और सुंदर होती हैं।

भारतीय संस्कृति विश्वकल्याण की भावना में निहित है। वर्तमान में संस्कृति का संरक्षण और संवर्धन करना हमारा परम कर्तव्य है। सोलह संस्कार, आभूषण संस्कृति, सोलह श्रृंगार का प्रयोजन विज्ञान, मनोविज्ञान, आयुर्वेद, योग, आध्यात्म के पूर्ण अधयन के साथ-साथ मानव मन को सुसंस्कारी बनाने हेतु किया गया है। हमारी नई पीढ़ी को मूल्यों, संस्कृति और सभ्यता से जोड़ना हमारा परम कर्तव्य है।

*****

उज्जैन की लोकनाट्य विधा-माच

डॉ. प्रीति पाण्डे
सहायक आचार्य
संस्कृति एवं पुरात्तव अध्ययनशाला
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

उज्जैन महाभारत की सांस्कृतिक राजधानी रही है। छठी शताब्दी महाजनपद काल के शक्तिशाली महाजनपद के रूप में स्थापित अवन्तिका की उत्तरी राजधानी उज्जयिनी अपने बहुरंगे सांस्कृतिक स्वरूप के लिये जानी जाती है। संस्कृति के विभिन्न रंगों में एक रंग कला का क्षेत्र होता है। विभिन्न कलाओं का अपना एक पृथक सौंदर्य और आयाम होता है भले ही वह चित्रकला हो, स्थापत्य कला हो, प्रतिभा कला हो, संगीत कला हो अथवा सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्यकला। नाट्यकला जनमानस से अपना सम्बन्ध स्थापित करने एवं स्थायी प्रभाव छोड़ने की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। उज्जैन नाट्यकला की उर्वरा भूमि है। महाकवि एवं नाटककार कालिदास, भास, शूद्रक, मदन कवि, हर्ष विक्रमादित्य, धनंजय आदि न जाने कितने नाटककारों ने उज्जैन के सामाजिक सांस्कृतिक स्वरूप को अपने नाटकों में प्रदर्शित है। शनैः शनैः नाटक-विधा विदेशी आक्रमणों के कारण धूमिल होती गई एवं यदा-कदा लोक व्यवहार में कुछ लोक कलाएँ दिखाई दी। 19वीं शताब्दी में पुनः इस कला ने करवट बदली और लोक नाट्य कला **'माच'** के रूप में पुनः जनमानस को प्रभावित किया। प्रस्तुत लेख में मालवा की भूमि में उपजी एवं पनपी तथा आज भी प्रचलन में ऐसी 'माच' लोक नाट्य परंपरा का वर्णन किया जाना अभीष्ट है।

लोक संस्कृति किसी भी परिक्षेत्र की आत्मा होती है। उसके अस्तित्व से उस क्षेत्र का जीवन चलायमान होता है। लोकमानस की अभिव्यक्ति की विभिन्न विधाओं में लोक नाट्य विधा माच मालवा की आत्मा है। संप्रेषण शैली, गीत, संगीत, गायन एवं रोचकता ये सभी समग्रभाव से प्रभाव उत्पन्न करते हैं। माच में संपूर्ण संवाद ऊँचे सुरों में गाये जाते है। लगभग 6 से 7 घंटे चलने वाला माच श्रमसाध्य भी होता है। ऐसे में लोक नाट्य माच की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले कलाकार संख्या में न्यून हैं।

माच एक गीत-काव्य-संवाद शैली में प्रस्तुत एक लोक नाट्य है जिसमें प्रदर्शन मंच पर किया जाता है। प्रारम्भिक काल में ऊँचे मंच लगाये जाते थे। संभवतः यही कारण है कि इसे माच (वृहद मंच) कहते हैं।

माच मूलतः अत्यन्त सरल एवं सहजभाव से मीठी मालवी बोली में आबद्ध एक सांस्कृतिक प्रस्तुतीकरण होता है। न जाने कितने ही ऐतिहासिक विषयों को लेकर जैसे उदयन-वासवत्ता, राजा भृर्तहरि एवं राजा विक्रमादित्य आदि से यह नाट्य बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थानीय किंवदंतियाँ, पौराणिक कथाओं से भी विषय उठाये जाते हैं। माच शब्द जो कि मंच के तत्सम के रूप में रूढ़ हो गया वह मूलतः 'मचान' शब्द से निकला हुआ माना जाता है। संभवतः मचान से ऊँचा मंच सम्बन्धित किया जाता है क्योंकि मूलतः प्रारम्भ में माच के मंच अत्यन्त ऊँचाई पर बनते थे कि इनके नीचे से बैलगाड़ी निकल जाये।

माच में पुरूषों के द्वारा ही समस्त भूमिकाऐं की जाती थीं एवं सभी पात्र भी पुरूष ही अभिनय करते थे। यद्यपि उज्जैन में एक महिला कलाकार अपवाद स्वरूप थीं जिनका नाम था लहरगीर जो कि कालूराम अखाड़े से थी। कहते हैं कि इनकी आवाज

इसकी बुलन्द थी कि काफी दूर तक सुनाई देती थी। सामाजिक कारणों से ऐसा किया जाता होगा।

माच के प्रारम्भ का श्रेय मालवा में उज्जैन को दिया जाता है। इस कला के प्रारम्भ का श्रेय गोपाल गुरू को दिया जाता है। आपने लेखन निर्देशन एवं प्रस्तुति सभी की थी। इसके प्रस्तुतीकरण में कलाकारों के साथ दर्शक भी गाकर एवं नृत्य करके सक्रिय भाग लेते थे। एक व्यक्ति भेष बदलकर कई लोगों का चरित्र निभा लेता है। इसी प्रकार उज्जैन के प्रसिद्ध माचकारों में जयसिंहपुरा के गुरू बालमुकुन्द जी (1808-1875) नयापुरा के गुरू भेरूलाल जी, विलोटीपुरा के गुरू राधाकिशन जी (1850-1903), दौलतगंज के कालूराम (1857-1927) आदि विशेष हैं। मालवा के एक अन्य प्रारम्भिक कलाकार का नाम सिद्धेश्वर सेन है जो कि मूलतः इंदौर के हैं आपने परम्परा को आगे बढ़ाते हुये उसे आधुनिक परिवेश से भी जोड़ा। वर्ष 1962 से आपने महिला किरदारों को भी माच से जोड़ा। आपने लगभग 30 माच नाट्य लिखे। आपने पौराणिक विषयों के साथ सरकारी योजनाओं को भी जनता के बीच माच के माध्यम से भेजकर एक नया अध्याय जोड़ा। इसी क्रम में पण्डित ओमप्रकाश शर्मा का भी नाम है।

यह ढोलक, हारमोनियम एवं सारंगी के संगीत से तालबद्ध होकर गाया जाता है जिसमें गीत में मूलतः संवाद होते हैं। अतः कलाकारों का अच्छा गायक होना भी आवश्यक है। प्रारम्भ में होली के अवसर पर इसे प्रारम्भ किया जाता था।

माच के ऊँचे मंच को लगाने से पूर्व बस्ती की कोई खुली जगह पर माच का खम्ब (स्तम्भ) स्थापित किया जाता है जिसकी पूजा पारंपरिक लोकविधान से की जाती है। माच के कलाकारों की मंडली अपने गुरू से इसकी पूजा कराती है। पूजन में आम के पत्ते, धनिया, गुड़ और लाल कपड़े का प्रयोग किया जाता है। पूजा के दौरान ढोलक बजती रहती है। इसी भांति नाट्य शास्त्रों में इन्द्र पताका की स्थापना का भी वर्णन है। कहीं न कहीं यह सामान्य जनों का पूर्व सूचनार्थ एक क्रियाप्रणाली थी।

पिछले दो सौ वर्षों से परिष्कार और परिवर्धन से गुजरता हुआ यह लोक-नाट्य रूप आज की शब्दावली में 'समग्र मंच' की अवधारणा की प्रतिपूर्ति करता है जिसमें पाठ, अभिनय, संगीत, नृत्य, आशु अभिनय, काव्य गायन तथा त्वरित हास परिहास आदि सम्मिलित हैं।

आज भी माच मालवा के विभिन्न भागों में प्रचलित है एवं इसकी गतिविधियों का केन्द्र उज्जैन है। उज्जैन के माच को मध्य प्रदेश के संस्कृति विभाग से मिल रहे प्रोत्साहन एवं सहयोग से यह कला संरक्षित हो गई है। सांस्कृतिक नगरी होने के कारण माच कलाकार इस अनुपम नाट्य शैली को अपनी अगली पीढ़ियों को हस्तांतरित कर रहे हैं। ये पीढ़ियाँ यद्यपि इस कला को सहेज रही हैं किन्तु और अधिक प्रयासों की आवश्यकता है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इस कला की सहजता, सरलता, मधुरता एवं जनप्रियता ने अपना वर्चस्व आज भी मालवा के जनमानस में बना रखा है। यह लोक परंपरा की अजस्र प्रवाहित सागर की एक विशिष्ट धारा है जो अपने वैशिष्ट्य के कारण निरंतर प्रवाहमान है।

*****

पांचाल प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर : तरणेतर का मेला

डॉ समीर उपाध्याय 'ललित'
अध्यापक

भारत के गुजरात राज्य के सुरेन्द्रनगर जिले के थानगढ़ तालुका में तरणेतर नामक एक छोटा-सा गाँव है, इसके इर्द-गिर्द का इलाका पांचाल प्रदेश के नाम से जाना जाता है। पंचाल प्रदेश का भौगोलिक विस्तार बहुत बड़ा नहीं है, किंतु सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और धार्मिक महत्व बहुत है। स्कंद पुराण में उल्लेख है कि भगवान विष्णु ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए कठोर तपस्या की और उन्हें शिवजी पर 1001 कमल के पुष्प चढ़ाने थे। शिवजी पर 1000 कमल पुष्प तो चढ़ा दिएं, लेकिन एक पुष्प कम हुआ। एक पुष्प की पूर्ति करने हेतु उन्होंने अपना नेत्र शिवजी को चढ़ा दिया तब से शिवजी त्रिनेत्रेश्वर कहलाए। तरणेतर गाँव में शिवजी का एक पौराणिक मंदिर विद्यमान है, जो 'त्रिनेत्रेश्वर' के नाम से जाना जाता हैं। इस मंदिर की कवि की रचना में सुंदर झलक मिलती है -

ये
प्राक्त
देवल
तीन कुंड
शिल्प अद्‌भुत
यात्री वशीभूत
महादेव संभूत।
ये
तीर्थ
पांचाल
अचरज
शैली देशज
विशाल गुंबज
ध्वजा बावन गज।
ये
दिव्य
पवित्र
शिवालय
पांचाल धाम
मेला धूमधाम
तरणेतर ग्राम।
ये
महा
संस्थान
ऊर्जावान
भक्ति प्रधान
जाह्नवी मिलान
त्रिनेत्रेश्वर खान।

त्रिनेत्रेश्वर महादेव का मंदिर 10वीं शताब्दी का कलापूर्ण मंदिर है। इतिहासकारों एवं पुरातत्त्वविदों का मानना है कि इस मंदिर की शैली गुर्जर प्रतिहार प्रकार की है। मंदिर का शिल्प अद्‌भुत, मोहक और मनोहर है। मंदिर के तीनों ओर पानी के तीन कुंड हैं जो 'ब्रह्मकुंड' 'शिवकुंड' और 'विष्णुकुंड' के नाम से जाने जाते हैं। इस मंदिर का जीर्णोद्धार लखतर के राजवी करण सिंह जी ने अपनी पुत्री करण बा की याद में ई.स.1902 में करवाया।

पौराणिक मान्यता के अनुसार पाँच ऋषियों ने मिलकर गंगा जी के अवतरण हेतु त्रिनेत्रेश्वर महादेव के मंदिर के प्रांगण के कुंड में आवाहन किया और गंगा जी प्रकट हुए। एक मान्यता यह भी है कि द्रोपदी के स्वयंवर में अर्जुन ने मत्स्यवेध कर द्रोपदी को वरमाला इसी जगह पर पहनाई थी। तरणेतर सड़क के रास्ते से आसानी से पहुँचा जा सकता है। राजकोट से तरणेतर की दूरी लगभग 75 किलोमीटर है, जबकि अहमदाबाद से 126 किलोमीटर है। राज्य परिवहन की बस सेवा से यहाँ पहुँचा जा सकता है। तरणेतर से

सबसे नजदीकी रेलवे स्टेशन थानगढ़ है जो लगभग 10 किलोमीटर की दूरी पर है। यह रेलवे स्टेशन राजकोट अहमदाबाद रेल लाइन से जुड़ा हुआ है।

सौराष्ट्र के तीन मेले प्रख्यात हैं-भवनाथ का शिवरात्रि का मेला, घेड का माधवपुर का मेला और पांचाल प्रदेश का तरणेतर का मेला। शिवरात्रि का मेला भक्ति का मेला है, माधवपुर का मेला रूप का मेला है और तरणेतर का मेला रंगो का मेला है। तरणेतर में हर साल भाद्रपद मास की शुक्ल पक्ष की चतुर्थी से लेकर तीन दिन तक भव्यातिभव्य लोकमेले का आयोजन किया जाता है। रंग-बिरंगी छतरियाँ, सुशोभित बैलगाड़ियाँ और परंपरागत वस्त्राभूषण इस मेले के आकर्षण के मुख्य केन्द्र हैं। आज इस मेले ने अपनी सांस्कृतिक धरोहर के कारण पूरे विश्व में अपनी एक अलग पहचान बनाई है, जिसे कवि ने सुंदर शब्दों में ढाला है -

ये
संघ
स्पंदन
रूप धन
लोक नर्तन
कला प्रदर्शन
संस्कृति धड़कन।
ये
मेला
जोशीला
रास लीला
युवा स्फूर्तीला
वस्त्र भड़कीला
छत्र रंग रंगीला।
ये
स्फीत
विनीत
सूर गीत
यौवन प्रीत
मुलाकात मीत
तरणेतर रीत।
ये
साधु
अटल
योग बल
भक्ति प्रबल
भजन मंडल
पंचाल परिमल।

इस प्रदेश में पशुपालकों का निवास प्रागैतिहासिक काल से रहा है। उनका जीवन संपूर्ण लोक जीवन है। उनकी लोक संस्कृति उनकी अस्मिता है, जिसे आज तक उन्होंने बरकरार रखा है। इसका दर्शन तरणेतर के मेले में होता है। इस मेले में मोटा भाई भरवाड, नाना भाई भरवाड, रबारी समाज, तणपदा कोणी समाज, चुवाणीया कोणी समाज और काठी समाज बड़ी तादाद में इकट्ठा होता है।

पांचाल प्रदेश के रबारी और भरवाड़ समाज की सांस्कृतिक धरोहर की अभिव्यक्ति का बेनमून रंगमंच अर्थात् तरणेतर का मेला। गेला, पुंजा, गांडा, वीहा ,कमा, तेजा, नवघण, सोमा, खेंगार, मोती, रामा,जीवण, लखमण, अमरत, काणा, बेचर, गभरू, जोधा, मात्रा, पांचा, कानजी, सामत, वाघा, पोला, हीरा और रत्ना का मेला अर्थात् तरणेतर का मेला। राधी, जोमी,पोती, जीवी, बोघी, मीठी, झबु, धनी, मणी, रतन,लीली, रामी, पांचु और काशी का मेला अर्थात् तरणेतर का मेला।

इस मेले को भौगोलिक दृष्टि से तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है। मंदिर की पूर्व दिशा में तालाब है जहाँ कमल के फूल देखने को मिलते हैं। ऐसा लगता है कि यहीं से जीवन की शुरूआत होती है और जीवन की गति तालाब के किनारे पर आकर यौवन के रूप में खिलने लगती है। बचपन में यौवन और यौवन में बचपन खेल रहा हो ऐसा दृश्य खड़ा होता है। थोड़ी वय बढ़ने से आगे बाज़ार आता है, जहाँ खरीदारी होती है और प्रौढ़ावस्था आने पर मंदिर में त्रिनेत्रेश्वर महादेव के दर्शन और उत्तरावस्था में मेले की पश्चिम दिशा की ओर भजन मंडलियाँ होती हैं जहाँ मेला पूरा होता है।

पांचाल प्रदेश के प्रत्येक गाँव से युवक-युवतियाँ परंपरागत वस्त्राभूषणों में सज्ज होकर सुशोभित बैलगाड़ियों में बैठकर तरणेतर के मेले का आनंद उठाने के लिए निकल पड़ते हैं। वैसे भी यह

मेला विवाह के लिए उत्सुक अविवाहित युवक-युवतियों के लिए जीवनसाथी की तलाश करने का स्थल है। रास खेलते-खेलते आँखें चार हो जाती हैं और फिर आगे की परिवार के बड़े-बुजुर्ग सँभाल लेते हैं। इतना ही नहीं सगाई से जुड़े युवक युवतियों का भी मिलन स्थल है यह मेला। मेले की मस्ती में दिन-रात कहाँ बीत जाते हैं इसका पता ही नहीं चलता और अगले साल फिर मिलने का वादा करके सब बिछड़ते हैं। इसलिए यह मेला लोकोर्मियों की अभिव्यक्ति का स्थान माना जाता है। इस मेले की तीन विशेषताएं हैं- एक-दूसरे के सामने गाए जाने वाले दोहे, रात्रि से लेकर सुबह तक चलती भजन मंडलियाँ और एक साथ 200-300 युवक-युवतियों का साथ खेला जाने वाला हूडा रास। यह मेला आनंद, जवानी और कला का अनूठा संगम स्थान है। राजा भाई का मेरु ऐसी बाँसुरी बजाता है कि उसे सुनकर शास्त्रीय संगीतकार भी डोलने लगते हैं और रूडा भाई का खेता पाँच मजलेवाली मोर और तोते से सुशोभित छतरी लेकर आता है कि विदेशी सैलानी उसे कैमरे में कैद करने के लिए दौड़े चले आते हैं। मनमोहक छतरी को देखकर कवि मन सहज ही बोल उठता है -

ये
छाता
विशाल
रंग लाल
कोर रुमाल
गोपाल कमाल
धरोहर पांचाल।
ये
गोल
गगरी
कारीगरी
चित्र कोठरी
रंगीन वल्लरी
पंचाल जादूगरी।
ये
न्यारी
दुलारी
छोलदारी
कला भंडारी
शोभा दरबारी
संस्कृति किलकारी।
ये
रूप
सौगात
फुल भात
दृश्य देहात
विदेश निर्यात
छतरी सुविख्यात।

हामा भाई ढोली जब ढोल बजाता है तब लाल-पीले वस्त्राभूषणों में सजे युवक-युवतियों के पैर थिरकने लगते हैं और शुभारंभ होता है- रास, टीटोडा और हूडा का। हूडो नृत्य को कवि ने सुंदर शब्दों में ढाला है -

ये
हूड़ो
नर्तन
चितवन
भाव गहन
जवानी उफन
भरवाड मंचन।
ये
जोश
अभंग
लोकनृत्य
ताली तर्जन
प्रेम रसायन
हमजोली चयन।
ये
मोद
अपार
नर नार
भव्य श्रृंगार
आनंद फुहार
हूडो नृत्य संसार।
ये
साँस
मिठास
हर्षोल्लास
प्रेम विलास

अद्‌भुत प्रवास
पिया मिलन आस।

अरे भाई। इस मेले के लोकगीत और लोकवाद्यों की बात ही क्या करे। खेंगार ढम-ढम ढम-ढम ढोल बजाता हो, रामजी मधुर स्वर में बाँसुरी बजाता हो, भोलेनाथ के मंदिर में आरती के समय धड़-धड़ धड़-धड़ नगाड़ा बज रहा हो। भाई-भाई। इस मेले के लोकगीत और लोकवाद्यों का जादू तो ऐसा है कि जिसके कानों तक इनके सुर पहुँचते हैं वे बिना नाचे रह नहीं पाते। धनी, मणी, रतन और लीली की रासलीला को देखना हो या फिर लखमण, अमरत, काणा, पांचा के हुडो को देखना हो तो एक बार जाना पड़ेगा भाई तरणेतर के मेले में।

"हालो मानवीयुं ने मेणे,
मेणा मां मारो मननो मानेल छे।
हे...इरे मेणा मां मारा दलनो मानेल छे।
हाँ...इरे मेणा मां एक आटीयाणी पाघडी
हे...एनी पाघडीना छोगे
मारा मनडा ओवारूँ काय दलडा नीचोवुं
हालो...हालो मानवीयुं ने मेणे
मेणा मां मारो मननो मानेल छे।"

भाई...भाई ! इस कर्णप्रिय लोकगीत को सुनकर विठ्ठल, गोविंद, गोपाल और रत्ना मस्ती में पागल न हो जाएं तो और करें क्या?

पांचाल प्रदेश की कला-कारीगरी को देखना हो तो एक बार तरणेतर के मेले से मुलाकात करनी ही पड़ेगी। झोमी, पोती, जीवी, बोघी और कंकु ने झीमी पहनी हो, माथे पर लाल-पीली ओढ़नी ओढ़ी हो, हाथों में हाथी दाँत की चूड़ियाँ पहनी हो और सुशोभित बैलगाड़ियों में बैठकर लोकगीत गाती हो-

अब इस मेले में सरकार विशेष रूचि लेने लगी है। पिछले कई सालों से इस मेले में ग्रामीण ओलंपिक का आयोजन किया जाता है। प्रवास पर्यटन विभाग भी इस मेले में सक्रिय होता है। मेले में आयोजित विभिन्न स्पर्धाएँ लोगों में आकर्षण का केंद्र बनती हैं- अश्व स्पर्धा, सुशोभित बैलगाड़ी स्पर्धा, सुशोभित छतरी स्पर्धा, रास-गरबा स्पर्धा, वस्त्राभूषण

स्पर्धा इत्यादि। इस मेले में भरवाड नर के वस्त्र और आभूषण नारियों के लिए आकर्षण के केंद्र होते हैं-

ये
बंडी
केडियां
मनोहार
मोर साकार
वस्त्र घेरदार
गोपालक आसार।
ये
कंठी
कंदोरा
कोकरवां
कड़ा पैहार
भव्य अलंकार
भरवाड श्रृंगार।
ये
नर
जोशीला
हस्त लाठी
सिर पगड़ी
चरण मोजड़ी
प्रदर्शन हेंकड़ी।
ये
धोती
उभार
बहु रंग
चमकदार
बेल बूटा हार
वसन जोरदार।

जहाँ तीनों लोकों के नाथ देवाधिदेव महादेव बिराजमान है.. हाँ...ये वो तरणेतर का मेला है। जहाँ साधु-संतों की मंडलियाँ अखंड भजन-कीर्तन करती हैं। हाँ.. हाँ..ये वो तरणेतर का मेला है। जहाँ भक्ति, शक्ति और सौंदर्य का त्रिवेणी संगम होता है... हाँ...हाँ...हाँ...ये वो तरणेतर का मेला है।

अरे भाई। यह दुर्लभ मानव शरीर बार-बार मिलने वाला नहीं है। अंदर बैठे हुए अंतरतम का उद्धार करने का इससे बेहतर मौका और कहाँ मिलेगा? नहीं करने पड़ेंगे कठोर जप-तप और नहीं करनी पड़ेगी चार धाम की यात्रा। बस, ऋषिपंचमी के दिन चले जाओ तरणेतर के मेले में। जहाँ पापनाशिनी गंगा स्वयं प्रकट होती हो।

तरणेतर का मेला तो है रंगरंगीला और छैलछबीला। इसका रूप तो है अपरंपार। चलिए। पांचाल की लोक-संस्कृति की सरिता-समान इस मेले में डूबकी लगाकर मानव जन्म को कृतार्थ करें।

चलो भैया! तरणेतर के मेले में
हाथ में रुमाल
पैरों में रजवाड़ी जूतें
सिर पर पगड़ी
हाथ में लिए लाठी।
यही तो इस मेले का आनंद है
मेरे भैया।

इंडोनेशिया में भारत की सांस्कृतिक समरसता

श्रद्धा वशिष्ठ
समाज सेविका

दक्षिण-पूर्व एशिया में बसे इंडोनेशिया और भारतीय उपमहाद्वीप के संबंध केवल भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं हैं, बल्कि हजारों वर्षों की साझा संस्कृति, धर्म, कला, भाषा और परंपराओं से गहराई से जुड़े हुए हैं। आज भी, जब हम इंडोनेशिया की गलियों में चलते हैं, वहां के मंदिरों, कठपुतली थियेटर, भोजन, उत्सवों और धार्मिक आस्थाओं में हमें भारत की सांस्कृतिक आत्मा की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। यह लेख न केवल ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है, बल्कि यह वर्तमान इंडोनेशियाई समाज में जीवित भारतीय सांस्कृतिक प्रभावों को समझने का प्रयास है।

नाम में ही छुपा है भारत का प्रभाव

इंडोनेशिया का नाम ही इसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक जड़ों की ओर इशारा करता है। इंडोस का अर्थ भारतीय है, जो हिंद महासागर से संबंधित है। नेसोस का अर्थ द्वीप है। इसलिए, इंडोनेशिया का शाब्दिक अर्थ "भारतीय द्वीप" है। इस प्रकार "इंडोनेशिया" का अर्थ हुआ — भारतीय द्वीप समूह। यह नाम न केवल भौगोलिक स्थिति को दर्शाता है, बल्कि इस बात का भी प्रमाण है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव इस क्षेत्र पर प्राचीन काल से ही मौजूद रहा है।

व्यापार से संस्कृति तक ऐतिहासिक यात्रा

भारतीय उपमहाद्वीप और इंडोनेशिया के बीच का संबंध 2000 वर्षों से अधिक पुराना है। व्यापारियों, नाविकों, साधुओं और विद्वानों के माध्यम से भारत से हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, संस्कृत भाषा, वास्तुकला और जीवनशैली इंडोनेशिया पहुंची। श्रीविजय और मजापहित साम्राज्य जैसे शक्तिशाली राजवंशों ने न केवल भारत से धर्म और संस्कृति को अपनाया, बल्कि उसे संजोकर विकसित भी किया। श्रीविजय काल में इंडोनेशियाई छात्र नालंदा विश्वविद्यालय में अध्ययन करते थे, जिससे शिक्षा में भी भारत का गहरा प्रभाव पड़ा। बाली, जावा और सुमात्रा जैसे द्वीपों पर संस्कृत में शिलालेख, यूपा स्तंभ, और प्राचीन मंदिर इस सांस्कृतिक सेतु के प्रमाण हैं।

धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में भारत की उपस्थिति

बाली: हिंदू संस्कृति का जीवंत केंद्र

* बाली द्वीप पर 85% से अधिक लोग हिंदू धर्म का पालन करते हैं, जो भारतीय परंपराओं से प्रेरित है, हालांकि उसमें स्थानीय रंग भी मिल चुके हैं।

* हर घर में एक गृह मंदिर होता है और गणेश जी की मूर्ति घर के प्रवेशद्वार पर देखी जाती है। प्रवेशद्वार पर गणेश जी की पूजा अर्चना विधि विधान के अनुरूप की जाती है। यह कहना ग़लत नहीं होगा कि हिंदू धर्म को मानने वाले लोग अपने घरों के प्रवेशद्वार बिना गणेश जी की मूर्ति के आमतौर पर बनाते ही नहीं हैं।

* यहां के त्योहार, जैसे गलबंगन और कुनिंगन, भारतीय तीज-त्योहारों से मिलते-जुलते हैं। उन्हें मनाने के वजह, तरीक़े इत्यादि में भारतीय संस्कृति की छाप सीधे तौर पर देखने को मिलती है । गलबंगन यहाँ का एक प्रमुख हिंदू त्योहार है, जो बाली द्वीप पर धूम धाम से मनाया जाता है। यह त्योहार दस दिनों तक चलता है। यह अधर्म पर धर्म की जीत का प्रतीक माना जाता

है। इस दौरान, बाली के लोग देवताओं और पूर्वजों का स्वागत भी करते हैं। बुरी आत्माओं को दूर भेजने के लिए पूजा अर्चना की जाती है। कुनिंगन को गलबंगन के आख़िरी दिन विशेष रूप से सकेनान मंदिर में मनाया जाता है। इस दिन इंडोनेशिया में सड़कों पर बांस के डंडे लगाए जाते हैं जिन्हें पेनजोर विशेष प्रसाद भी बनाया और बांटा जाता है। यह गलबंगन पर्व के समापन का प्रतीक है। इन दस दिनों घरों, दुकानों, बाजारों को सजाया जाता है।

मंदिरों की छटा

प्रम्बानन मंदिर इंडोनेशिया का सबसे बड़ा हिंदू मंदिर है, जो प्रभु शिव, विष्णु और ब्रह्मा को समर्पित है। प्रम्बानन मंदिर मध्य जावा में स्थित है। इस मंदिर को 9वीं शताब्दी में बनाया गया था। प्रम्बानन मंदिर परिसर में तीन मुख्य मंदिर हैं जो त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) को समर्पित हैं। यहाँ उनके वाहनों (नंदी, गरुड़ और हंस) के लिए भी मंदिर हैं। इस मंदिर की स्थापत्य शैली भारतीय संस्कृति से

प्रेरित है जो भारतीय शिल्प कला की इंडोनेशिया में मजबूत जड़ों का संकेत देती है। प्रम्बानन मंदिर परिसर में प्रम्बानन मंदिर (जिसे लोरो जोंगग्रांग भी कहा जाता है), सेवु मंदिर, बुबराह मंदिर और लुम्बुंग

मंदिर शामिल हैं। प्रम्बानन मंदिर स्वयं 240 मंदिरों का एक परिसर है। ये सभी मंदिर प्रम्बानन पुरातत्व पार्क का निर्माण करते हैं और इनका निर्माण 8वीं शताब्दी ईस्वी में जावा में शैलेंद्र के शक्तिशाली राजवंश के उत्कर्ष काल के दौरान हुआ था। यह परिसर जावा द्वीप पर योग्याकार्ता और मध्य जावा के दो प्रांतों की सीमा पर स्थित हैं। प्रम्बानन मंदिर परिसर में 9वीं शताब्दी ईस्वी में निर्मित मूल संरचनाएँ आज भी मौजूद हैं। भूकंप, ज्वालामुखी विस्फोट और राजनीतिक सत्ता परिवर्तन के कारण ये मंदिर 11वीं शताब्दी के आरंभ में ढह गए थे परंतु 17वीं शताब्दी में इनकी पुनः खोज की गयी। इन परिसरों को कभी भी विस्थापित नहीं किया गया। इनका जीर्णोद्धार समबन्धि कार्य वर्ष 1918 से ही चल रहा है, जिसमें पत्थरों को आपस में जोड़ने की मूल पारंपरिक विधि और मंदिर की संरचना को मज़बूत बनाने के लिए कंक्रीट का उपयोग करने की आधुनिक पद्धति दोनों शामिल हैं। हालांकि गत समय में और वर्तमान में 2006 के भूकंप के बाद भी व्यापक जीर्णोद्धार कार्य किए गए हैं, फिर भी संरचनाओं की प्रामाणिकता बनाए रखने के लिए बहुत सावधानी बरती गई है। द्वारपाल की चार जोड़ी विशाल मूर्तियों वाला सेवु, इंडोनेशिया का सबसे बड़ा बौद्ध परिसर है, जिसमें लुम्बुंग, बुबराह और आसु (गण मंदिर) के मंदिर शामिल हैं। ये हिंदू मंदिर रामायण महाकाव्य के इंडोनेशियाई संस्करण को दर्शाती हैं,जिस पर पत्थर

पर तराशी गई उत्कृष्ट कृतियाँ सुसज्जित हैं। ये सैकड़ों मंदिरों से घिरे हैं, जिन्हें तीन भागों में व्यवस्थित किया गया है, जो जावा में 8वीं शताब्दी ईस्वी की उच्च स्तरीय पत्थर निर्माण तकनीक और वास्तुकला को दर्शाते हैं। यहाँ पाँच सौ से अधिक मंदिरों के साथ, प्रम्बानन मंदिर परिसर एक वास्तुशिल्प और सांस्कृतिक धरोहर का प्रतिनिधित्व करता है। प्रम्बानन मंदिर परिसर इंडोनेशिया में शास्त्रीय काल की उत्कृष्ट कृति के रूप में शिव कला की भव्य संस्कृति को प्रस्तुत करता है। लेम्पुयांग मंदिर, उलुन दानु मंदिर, और कई अन्य मंदिरों में भारतीय देवी-देवताओं की मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं। यहाँ पूजा पाठ का तरीका भी भारतीय संस्कृति से मेल खाता है। यह सभी मंदिर इंडोनेशिया में भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रभाव को दर्शाते हैं।

बोरोबुदुर स्तूप दुनिया का सबसे बड़ा बौद्ध स्तूप है जो भारत और इंडोनेशिया के बौद्धिक और आध्यात्मिक संबंधों का प्रमाण है। यह बौद्ध स्तूप छः वर्गाकार चबूतरों से बना है। इसके वर्गाकार चबूतरों में से तीन का उपरी भाग वृत्ताकार है। यह 2,679 उच्चावचो और 504 बुद्ध प्रतिमाओं से सुसज्जित है। बोरोबुदुर मंदिर परिसर 8वीं और 9वीं शताब्दी का यह प्रसिद्ध बौद्ध मंदिर मध्य जावा में स्थित है। इसे तीन स्तरों में बनाया गया था जो क्रमश: इस प्रकार से हैं, पाँच संकेंद्रित वर्गाकार छतों वाला एक पिरामिडनुमा आधार, तीन गोलाकार चबूतरों वाला एक शंकु के आकार में और सबसे ऊपर एक विशाल स्तूप। इसकी दीवारें और कटघरे सुंदर उभरी हुई नक्काशी से सुसज्जित हैं, जिनका कुल क्षेत्रफल 2,500 वर्ग मीटर है। गोलाकार चबूतरों के चारों ओर 72 खुले स्तूप हैं, जिनमें से प्रत्येक में बुद्ध की एक मूर्ति है। 1970 के दशक में यूनेस्को की मदद से इस स्मारक का जीर्णोद्धार किया गया था।

केवल ग्रंथ नहीं, जीवन का अंग हैं रामायण और महाभारत- इंडोनेशिया में रामायण और महाभारत केवल साहित्यिक ग्रंथ नहीं हैं, बल्कि जनजीवन का हिस्सा हैं। जावा में "वेयांग कुलित" नामक छायांकन कठपुतली कार्यक्रमों में इन महाकाव्यों की कहानियां पूर्ण श्रद्धा के साथ प्रदर्शित की जाती हैं। वेयांग कुलित, जावानीस प्रदर्शन कला का एक महत्वपूर्ण रूप है। और यह कार्यक्रम नैतिक और सामाजिक मूल्यों को भी दर्शाता है। रामायण का "काव्य रामायण" इंडोनेशिया के कवि योगेश्वर द्वारा कावी भाषा में लिखा गया, जो आज भी पढ़ा जाता है। राजधानी जकार्ता के मध्य में अर्जुन और कृष्ण का भव्य रथ एक प्रतीकात्मक मूर्ति के रूप में स्थापित है — जो भारत के महाभारत से उनका संबंध दर्शाता है। रामायण की लोकप्रियता महाकाव्य की सांस्कृतिक विरासत का प्रमाण है। इंडोनेशिया में भी रामायण के प्रमाण मिलते हैं। इंडोनेशिया की रामायण का पहला भाग भारतीय संस्करण के समान है। दूसरे भाग में शक्तिशाली जावानीस देवता धायना और उनके तीन पुत्र भी हैं।

पुरानी जावानीज़ भाषा में लिपिबद्ध होने के कारण इसे काकाविन रामायण के नाम से जाना जाने लगा। इतिहासकार काकाविन रामायण को मध्य जावा में मेदांग साम्राज्य (732-1006 ईस्वी) के समय का मानते हैं। रामायण का दूसरा इंडोनेशियाई संस्करण बालीनी रामकावाका है, जो काकाविन रामायण का उन्नत और अद्यतित संस्करण है। जावानीस काकाविन रामायण को, जो संस्कृत-आधारित छंदात्मक पद्धति की एक श्रृंखला से प्राप्त हुई है, कलात्मक अभिव्यक्ति में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और सभी पुराने जावानीस ग्रंथों में सबसे लंबे हैं।

भारत ने सदा से विश्व में अपनी छाप छोड़ी है यह कारण है कि देवता भी इस भूमि पर जन्म लेना चाहते हैं। सर्वेक्षणों के माध्यम से यह पता चला है कि भारतीय संस्कृति की जड़ें कितनी गहरी हैं, इसी कारण विश्व व्यापी संवाद और अनुसंधान किए जा रहें है जिससे हम पुन: विश्व गुरू बन सके।

*****

भारतीय संस्कृति: इतिहास,समाज और साहित्य के वातायन से

हर्षित राय
शोधार्थी
काशी हिंदू विश्वविद्यालय

विशेषताओं की उदारचेता अनुसूची में भारतीय संस्कृति पर हुआ प्रत्येक अभिकथन किन्हीं रूपों में उस समृद्धि का आधार ही है, जिस समृद्धि को वर्तमान में हम भोग रहे हैं। यद्यपि यह शब्द 'भारतीय संस्कृति', भौगोलिक या वैश्विक अक्स में बड़ा छोटा अंश है किंतु इसके सर्वथा अल्पांश से ही समूचे संसार के तार जुड़े हैं। भारतीय संस्कृति का प्रारंभ होता है हिंदू संस्कृति के विस्तार से। विषयावगाहन से पूर्व यह स्पष्ट करना चाहूंगा कि **हिंदू** शब्द का प्रयोग भौगोलिक परिदृश्य में है, न कि तथाकथित प्रचलन में रहे धार्मिक परिदृश्य में; उस धार्मिक परिदृश्य के लिए अलग से '**सनातन**' शब्द का प्रयोग हुआ है। विभिन्न जातियों के मिश्रण से बनी शबर किरात आदि की कथा भी इसी 'हिंदू संस्कृति' का अभिन्न अंग होकर रह गयी। इन सबके मिश्रित रूप से परे '**हिंदुत्व पूर्व की संस्कृति**' से विषयारंभ करने पर भी (चूँकि हड़प्पा मोहनजोदड़ो के लेख पढ़े नहीं जा सके हैं अस्तु उनका वेदों के पूर्व या बाद में होने में संदेह है।) प्रथम आप्त वाक्य हमारे समक्ष वेदों के प्रस्तुत होते हैं। ऋग्वेद जो किहिंदू संस्कृति का प्राचीनतम ग्रंथ है, [संस्कृत (वैदिक संस्कृत) भाषा का ग्रंथ है] जिसे भाषायी आधार पर प्राचीन फ़ारसी 'पहलवी' से भी जोड़ा जाता है। मान्यता अनुसार इसका कुछ अंश ईरान में रचा जाना उसके कुछ श्लोकों का 'ज़न्दअवेस्ता' से समानता रखना आदि बहुत कुछ प्रचलन में है। इन विभिन्न मतों के बावज़ूद जिस 'संस्कृत' भाषा में वह रचा गया है वह सभी आर्य भाषाओं में सबसे समृद्ध है। **रामधारी सिंह 'दिनकर'** अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में उद्धृत करते हैं: *मैक्समूलर जैसा विद्वान सभी आर्य भाषाओं के शब्द संस्कृत की पाँच सौ धातुओं से निकला मानता है। इतना ही नहीं ऋग्वेद केवल भारतीय आर्यों का ही नहीं, विश्व भर के आर्यों का एकमात्र प्राचीनतम ग्रंथ है।*[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतवर्ष की सीमा, वर्तमान भारतवर्ष की सीमाओं से कहीं सुदूर तक अपना विस्तार पाती है। इसमें एक बात खटकने वाली 'आर्य' शब्द की आती है तो ध्यातव्य है कि वैसे भी 'आर्य' शब्द का प्रथम प्रयोक्ता **मैक्समूलर** है जो स्वयं बाद में चलकर अपनी ग़लती स्वीकार करता है और बताता है कि "'आर्य' शब्द से उसका अभिप्राय न रक्त से,न अस्थि से, न बाल से, न खप्पर से है, उसका तात्पर्य उन लोगों से है जो आर्य भाषा बोलते हैं"[2]. इसलिए आर्य द्रविड़ का बँटवारा छोड़ चलना श्रेयष्कर प्रतीत होता है।

अब बात आती है वैदिक काल की, वेदों के रचना काल से प्रारंभ हुई संस्कृति ही वास्तविक अर्थों में संस्कृति की शुरुआत कही जा सकती है, क्योंकि उससे पूर्व केवल घूमना, खाना व जीवित रहने मात्र का आयास व्याप्त था, जिसे सभ्यता की प्रारंभिक कड़ी भले कहें,'संस्कृति' की प्रारंभिक कड़ी बिल्कुल नहीं कहा जा सकता। पीछे के विवेचन से यह स्पष्ट करने का प्रयास है कि जिस भारतीय संस्कृति को हम आज एक छोटे से देशीय सीमाबंधों में बांधते हैं वह किस प्रकार यूरोप, अफ्रीका, एशिया तक अपना प्राचीन विस्तार पाती रही है। इन सब बातों से उसके अति प्राचीन विस्तार का अनुमान किया जा सकता है। 'हिंदुत्वारंभ की संस्कृति' में पहला स्थान वेदों का

आएगा, जिसमें बार-बार दो चीजों का ज़िक्र होता है ऋग्वेद और अवेस्ता (ज़ेन्दावेस्ता) अब इन दो अति प्राचीन ग्रंथों की समानता इसी से समझी जा सकती है कि इरानी पारसी लोग जो **अवेस्ता** को मानने वाले हैं, अग्नि पूजक थे और ऋग्वेद के मंडल 1. सूक्त 1. का पहला मंत्र ही,"***ॐअग्निमिळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारम् रत्नधातमम्"*** है जहाँ अग्नि ही पुरोहित है। प्राचीन ज़ेन्द की भाषा में (जेन्द की ही विकास प्राप्त भाषा फ़ारसी है) 'देव' का अर्थ राक्षस है और 'असुर' का अर्थ देवता है, जबकि भारत में असुर का अर्थ राक्षस और 'सुर' का 'देव' है। पुराणकालीन कथाओं में जिस देवासुर संग्राम की चर्चा होती है उसे आर्यों की दो शाखाओं एक जो हिंदू अथवा सिंधु नद के इसपार थी, उसके और दूसरी जो उस पार ईरान आदि में थी, ग़ैर हिंदू दोनों के बीच युद्ध का ही प्रतिरूप मान लें तो यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने हमें अपनी भाषा में राक्षस कहा और हमने अपनी भाषा में उनको राक्षस कहा। जेन्दावेस्ता में इंद्र का समावेश असुर विरोधी देवों में करना व इसी कारण घृणायोग्य कहना इस विवाद का स्पष्ट प्रमाण है।[3.] वेदों को श्रुति माना गया है जिसकी रचना मौखिक हुई। भारत में 3000 ई०पू० में लेखन आरंभथा इसका प्रमाण उपलब्ध है। **विंटरनिज** ने भी ऋग्वेद को ईसा से 2500 वर्ष पहले का माना है जो सामान्यतया प्रचलन में है। वाल्मीकि रामायण कि ग्रहों की स्थिति के आधार पर यदि नासा के प्लेनटोरियम सॉफ्टवेयर ने श्रीराम का जन्म 10 जनवरी 5114 ई० पू० स्थित किया है तो महाभारत की लड़ाई ईसा से 3000 वर्ष पूर्व ठहराने में कोई दोष नहीं; और इसी महाभारत काल में कृष्ण द्वैपायन व्यास अपने लिपिक गणेश से बोलकर लिखवाते थे। वही व्यास वेदों के रचयिता भी माने जाते हैं। सिंधु सभ्यता में भी लेखन के प्रमाण मिले हैं, जो पढ़े नहीं जा सके हैं। उसके बाद लिखावट का दूसरा प्रमाण 300 ईसवी पूर्व का सम्राट अशोक का ब्राह्मी शिलालेख है। ये तो हिंदुत्वारंभ में रही वेदों की प्रामाणिकता और उससे जुड़े बाहरी स्रोतों की बात जो भारतीय संस्कृति का आधेय है। इसमें एक महत्त्वपूर्ण कड़ी कुछ जातियों की जुड़ती है जो कालांतर में बाहर से आकर इसी हिंदू संस्कृति की अंग बनीं और हमारे पौराणिक आख्यानों में उनके प्रमाण भी उपलब्ध हैं। उदाहरण स्वरूप चित्रांगदा-अर्जुन का प्रसंग किरात जाति को जोड़ता ही है, जो कि पूर्वी चीन के मूल में थे और असम, उत्तरी बंगाल, बिहार, बर्मा आदि में आये। विद्वानों ने ईसा के 1000 वर्ष पूर्व तक तो उनका भारत में आबाद होना भी दर्शाया है। वामाचार, कामाख्या पूजा,1564 ईसवी में हुई कामाख्या पीठ की स्थापना ये सब उन्हीं की देन हैं। किरातवंशी हिंदू अभी भी नृत्य, ज्ञान कलाप्रवीण हैं और नागा कुकी लोग इनसे प्रभावित भी है। बहरहाल इन ऐतिहासिक सम्मिश्रणों का परिणाम हमारी संस्कृति की विविधता में एकता वाली विशेषता ही प्रतिफलित करता है।

किसी भी प्रभावशाली संस्कृति का एक अंग वहाँ की धर्म-साधना और सामाजिक व्यवस्था भी है जिसके ऐतिहासिक तार तुलनात्मक अनुशीलन करने पर बाहर से भी जुड़ते हैं। भारतीय संस्कृति भी स्वयं को इस अनुशीलन में कम विस्तृत नहीं पाती, यह इसके प्रभाव को दर्शाता है। इरानी भी भारतीयों के समान प्राकृतिक तत्त्व अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु, जल आदि के पूजक थे और इन सभी का उपाख्यान वेदों में भी है; यहाँ तक कि इनकी चार जातियाँ भी भारतीयों के समान विभाजित हैं, *1.आथ्रवन(ब्राह्मण), 2.रथैस्तार(क्षत्रिय), 3.वास्त्र्योष (वैश्य) और 4.हुतोक्ष (शूद्र)*। यह व्यवस्था आज के 'विकसित' शब्द का प्रारंभिक आधार ही है। इससे पारसियों का संबंध अथवा उन्हीं के किसी भाग का यहाँ भारत में वहाँ से आना या यहाँ से जाना स्पष्ट होता है। माना तो यह जाता है कि 1000 वीं शताब्दी ई० में मुसलमानी आक्रमण के कारण उन्हीं का यहाँ भागकर आना हुआ था। हाँ, ये लोग गुजरात में पहले पहल आये माने जाते हैं व भारतीयों के साथ घुल मिलकर रहें। ईरान और भारत दोनों देशों की संस्कृतियां एक दूसरे से

नीर क्षीर सी मिली हुई थीं, यह भी किसी समय की सत्य घटना मानी जाती है। **इलियट** ने ईरानी *मागी* को ब्राह्मण से समीचीन अनुमानित किया है।[4] इतिहास प्रसिद्ध है कि मौर्यों के समय में ईरानी राज्य का कुछ अंश भारत में विलय था। अब आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का घुलना मिलना भी कोई सारहीन कथा नहीं कही जा सकती, क्योंकि इनमें वेदों, पुराणों, रीतिरिवाजों जैसी बहुधा कड़ियाँ जुड़कर इसे एक सुष्ठु आधार भी देती हैं। एक दूसरी बात इस संस्कृति के विकास में सामाजिक व्यवस्था की है जिसका आधार कर्मवाद है। इसका उत्स भी हम वैदिक युग से देखते हैं, उदाहरण स्वरूप ऋग्वेद को 'कर्मवाद' का प्रथम प्रदर्शक कह सकते हैं क्योंकि उससे यह स्पष्ट है कर्मों में प्रवृति मार्ग अपनाया जाए। आर्यों को पराक्रमी मनुष्य प्रायः सिद्ध किया गया है। इस प्रकार यह तो स्पष्ट है भारतीय संस्कृति का मूल ही समस्याओं के डटकर सामना करने से समुद्भूत है।

यदि भौगोलिक विस्तार की चर्चा में प्रवृत्त हों तो यही संस्कृति दक्षिण तक समान पायी जाती है। अगस्त्य मुनि के समय से भारत के दक्षिण और उत्तर दोनों भागों में समान धर्म रहा और संस्कृति भी समान रही। कई वैदिक ग्रंथों का प्रणयन दक्षिण में भी हो चुका है। **यजुर्वेद** की कृष्ण यजुर्वेद शाखा का दक्षिण भारत में प्रचलन है और इस पर विद्वानों का यह भी अनुमान है कि यह वैदिकेतर धारा ग्रंथ किसी दक्षिण के ऋषि द्वारा रचित याद्रविड़ देश का ग्रंथ है। वेदों को पुनरुज्जीवन देने वाले सायणाचार्य दक्षिण में ही हुए थे, विष्णुपुराण की विशिष्टता द्वैतवादी व्याख्या दक्षिण के ही विद्वान विष्णुचित स्वामी द्वारा की गयी थी, इस तरह हिंदू संस्कृति पर लिखे असंख्य ग्रंथ दक्षिण के हैं। शंकराचार्य के शारीरिक भाष्य की भामती टीका मिथिला में बैठे वाचस्पति मिश्र यदि लिख रहे हैं तो इन सबसे अधिक इस बात का प्रमाण हो ही क्या सकता है। भाषिक स्तर पर भी तमिल और संस्कृत के बीच शब्दों का आदान प्रदान अलम् है; कक्ष (काँख),खल(दुष्ट), तीरं(तट), मन्दिर (घर), जैसे चार सौ शब्द किटेल की सन् 1894 ई० में निकली *कन्नड़ इंग्लिश डिक्शनरी* में मिलते हैं जो तमिल भंडार के संस्कृत में भी हैं और ऐसे ही संस्कृत से सैकड़ों शब्द तमिल में पहुँचे। भारतीय परंपरा में एक कथा प्राप्य है कि उत्तर और दक्षिण को विभक्त करने वाली विंध्य पर्वतमाला ने दक्षिण की ओर जा रहे अगस्त्य मुनि को भूमि पर झुककर प्रणाम किया है और अगस्त्य ने अपने दक्षिण से वापस न लौटने तक उसे सिर झुकाये पड़े रहने का आदेश दिया है, चूँकि वे कभी लौटे नहीं सो विंध्य झुका पड़ा है। भले ही यह दंतकथा हो किंतु तमिल में भी इसी प्रकार की कथा है कि उन्होंने दक्षिण जाते वक्त गंगा की धारा से कावेरी को निकाल साथ ले लिया। अगस्त्य का उल्लेख ऋग्वेद में है, अस्तु वे प्राचीन पुरुष हैं। हाँ, यह अवश्य हैं की वेदों में तमिल प्रदेश का उल्लेख नहीं है। भारतीय नक्षत्र मंडल में अगस्त्य तारा दक्षिण आकाश में अवस्थित है और उन्हें इस दिशा का स्वामी कहा गया है। इस प्रकार यह दक्षिण से उत्तर तक फैली संस्कृति भले ही आर्य, द्रविड़ में विभक्त की गयी हो किंतु अगस्त्य द्वारा उत्तर और दक्षिण को जोड़ने वाले किये इन प्रभावशाली कार्यों के उल्लेख द्वारा हमारा प्राचीनतम वाङ्मय भारत की दो सुदूरतम दिशाओं की संस्कृति का एकीकरण करता है। यही 'हिंदू संस्कृति' का समेकित रूप लेकर स्फीत हुआ है और इन दोनों के समन्वय का प्रारंभ वेदकालीन है। ध्यान देने की बात यह मिलती है कि विविध संस्कृतियों के समन्वय का प्राचीनतम आदर्श भी इस प्रकार भारतीय संस्कृति ही प्रस्तुत करती है जिसे ऊपर साहित्य और इतिहास के स्फुट संदर्भों से पुष्ट किया गया है।

बात यदि सामाजिक व्यवस्था की करें तो ऋग्वेद, नवें मण्डल के 112 वें सूक्त के तीसरे श्लोक में एक ऋषि कहता है: "***कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी ननां। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव***" // अर्थात् मैं शिल्पविद्या की शक्ति रखता हूँ, पुन: वैद्य भी बन सकता हूँ मेरी बुद्धि नम्र है अर्थात् उसे जिधर भी

लगाना चाहूँ लगा सकता हूँ, पाषाणों का संस्कार करने वाली मेरी बुद्धि मुझे मंदिरों का निर्माता भी बना सकती है। इस प्रकार नाना कर्मों वाले मेरे भाव जो ऐश्वर्य को चाहते हैं वे विद्यमान हैं। हम लोग इंद्रियों की वृत्ति के समान ऊँच नीच की ओर जाने वाले हैं इसलिए हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन्। हमारी वृत्तियों को उच्चैश्वर्य्य के लिए प्रवाहित करें। (इस मंत्र में परमात्मा से उच्चोद्देश्य की प्रार्थना की गयी है कि हे भगवन्। यद्यपि मेरी बुद्धि मुझे कवि वैद्य तथा शिल्पी आदि नाना भावों की ओर ले जाती है तथापि आप ऐश्वर्य्य प्राप्ति के लिए मेरे मन की प्रेरणा करके मुझे उच्चैश्वर्य्य की ओर प्रेरित करें। यहाँ इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति में सामाजिक व्यवस्था कितनी मनोनुकूल थी। भारतीय संस्कृति में परवर्ती काल में भले ही विद्रूपताएँ आ गई हों किंतु 'वैदिककालीन संस्कृति' जिसका आधार वेद थे उनमें इस संस्कृति का जो पवित्र रूप है वह कृतयुग जनों के लिए शोध का विषय है और विश्व के लिए उदाहरण है। आधी आबादी नारी की स्थिति भी बाद में विकृति पूर्ण भले ही रही हो वरंच वेदों में वह आधुनिक समय में विकसित कही जाने वाली विचारणा के अनुकूल ही थी।

अब आगे हमारी संस्कृति अगला विकस्वर सोपान '**धार्मिकता की संस्कृति**' से समझा जाना चाहिए। इसमें प्रथमतया शैव धर्म आता है जिसे विद्वानों ने द्रविड़ संस्कृति से जोड़ने का प्रयास किया है। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा की खुदाई से मिले शिव विग्रह उन्हें प्राचीन पूज्य देवता सिद्ध करते हैं। तमिल के 'सेम्बू' शब्द से संस्कृत का 'शम्भु' शब्द तुलनीय है। दूसरा मुख्य प्रचलन में वैष्णव धर्म रहा है जिसे'भारतीय सनातन-साधना की समृद्ध संस्कृति' से जोड़ा जाता है। यहाँ से अवतारवाद हमारी संस्कृति का विशेष अंग बनकर जुड़ता है जो भारतीय साधना के साथ जनजीवन शैली में भी आदर्श बनकर समाहित है। साधना हमारी संस्कृति में आदर्श का विषय बन जाती है यही साधना का चरम विकास है। 'विष्णु' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में भी है किंतु यह बात विशेष अवधानता की अपेक्षा रखती है कि ऋग्वेद में 'विष्णु' शब्द 'सूर्य' अर्थ में है। द्वारकापुरी के कृष्ण मंदिर का प्राचीन नाम पंडित लोग सूर्य मंदिर भी बताते हैं। यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि वैष्णव धर्म भी भारत की प्राग्वैदिक परंपरा व वैदिक कालीन परंपरा का योगमूलक रूप है। नारदजी ने बद्रिकाश्रम में पांचरात्र धर्म का प्रवर्तन किया जिसके आराध्य नारायण ऋषि थे, इसी का विकसित रूप वैष्ण धर्म हुआ, जिसमें राम और सीता, लक्ष्मी और नारायण, कृष्ण और राधा की पूजा होती है। इसी में सात्वत विधि, वासुदेव धर्म, और हरि का स्थान वासुदेव श्रीकृष्ण ग्रहण कर भागवत धर्म आदि प्रचलित हुए। रही बात 'कृष्ण' नाम के प्राचीनता की तो पाणिनी जिनका समय सातवीं सदी ईस्वी पूर्व माना गया, उन्होंने कृष्ण और अर्जुन नाम का उल्लेख किया है, ***"वासुदेवार्जुनाभ्याम् वुन्"*** अर्थात् वासुदेव में जिनकी भक्ति है 'वासुदेवक' और अर्जुन में जिनकी है 'अर्जुनक'।[10] कुछ ऐतिहासिक पुरुष हैं और उनका संबंध गोपालन, खेती आदि से था जो अवतार के रूप में पूजित आ रहे हैं। उनके संबंध में प्रचलित कथाओं से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह बहुत बड़े व्यक्तित्व थे। **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** अपनी पुस्तक '*मध्यकालीन धर्म साधना* में (उनके अनुसार हमारे यहाँ अवतारों की संख्या मुख्यतया छ:से बढ़ती-बढ़ती अड़तीस तक है।)[11] उनके दो रूप बताते हैं एकरूप यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न वीरराजा कंसारी का दूसरा गोपीवल्लभ राधाधर-सुधापान शालिवनमालिका।[12] इनका दूसरा रूप ही कालांतर में मुख्य हो गया और प्रथम गौण, संभव है सूर के काव्य के ही प्रभाव से अन्य ने भी इसी दूसरे रूप को मुख्य रूप से उठाया हो। यहाँ सूर काव्य को लाने का ध्येय यह स्पष्ट करना मात्र है कि किस प्रकार भारतीय संस्कृति के आधार में बसे साधनात्मक आदर्श सामाजिकता के नये रंग पाते-पाते विकृत होकर हमारे समक्ष रह गए, फिर भी उनमें बहुत कुछ ऐसा है जो

हमें जीवन-दर्शन देता है। इनके प्राचीनतम उल्लेख वाले ग्रंथ छान्दोग्य उपनिषद और महाभारत में इनके श्रृंगारी रूप का ज़िक्र नहीं है। इसी प्रकार 'राधा' नाम पर भी यह आक्षेप किया जाता है कि इसका उपयोग कृष्ण के साथ एक जोड़ी मिलाने के लिए किया गया है। श्रीकृष्ण के बाल रूप को लेकर आभीर जाति के देवों से तुलना की गयी है, कालांतर में राधानिं बार्क महाराज के साहाय्य से प्रचारित हो गयीं, इन सब के प्रचारक आलवार भक्त ही थे। जैन ग्रंथ 'तिरसठ महापुरिस गुणालंकार' में राम और लक्ष्मण का ज़िक्र, राम का भी जैन एवं बौद्धों से अधिक प्राचीन होने का उपाख्यान करता है। यद्यपि वेदों में 'राम- सीता' शब्द का ज़िक्र है किंतु उन्हें रामकथा से संबद्ध मानने से विद्वानों ने पटाक्षेप किया है। एक उदाहरण 'सीता' शब्द का देता हूँ जिसे'खेत में हल की बनी रेखा' से जोड़ा जाता है जिसे इन्द्रपत्नी या पर्जन्य पत्नी भी माना गया। **फ़ादर कामिल बुल्के** *'रामकथा'* में ऋग्वेद से उद्धृत करते हैं :

"अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।

यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि"।

(4/57/6)[13.]

(अर्थात् हे मनुष्यों! जैसे उत्तम प्रकार संपादित खेत की धरती (सीता) उत्तम अन्नोंको उत्पन्न करती है, वैसे ही ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त हुआ जन उत्तम संतानों को उत्पन्न करता है और जैसे भूमिका राज ऐश्वर्यकारक है वैसे ही परस्पर प्रसन्न स्त्री पुरुष बड़े ऐश्वर्यवान् होते हैं।) बुल्के लिखते हैं इंद्र, सीता को ग्रहण करें पूषा(सूर्य) उसका संचालन करे, वह पानी से भरी सीता प्रत्येक वर्ष हमें धान्य प्रदान करती रहे।

इसी प्रकार रामकथा के अन्य पत्रों के भी अर्थ किये गए हैं जैसे यहाँ सीता वर्षा की अधिष्ठात्री देवी हैं बाद में जनक की अयोनिजा पुत्री का रूप लेकर प्रचलित हुई। बावज़ूद इन सबके रामायण की घटना मिथ्यात्वपूर्णन होकर सत्य घटना मानी जाती है और कुछ एक विद्वान इसे बुद्ध के बाद की रचना मानने के पक्ष में है किंतु बौद्ध ग्रंथ में रामकथा का उल्लेख भले मिल जाता है रामायण में (एक दो स्थान जिसे जबरदस्ती 'बुद्ध' शब्द खोज कर माने जाने वाले छोड़ दिए जाएँ तो) नहीं मिलता। राम, रावण, हनुमान तीन संस्कृतियों के प्रतिनिधियों का संगमन कराता काव्य 'रामायण' भारतीय साधनात्मक आदर्श की संस्कृति का आधार काव्य है। संभव है दक्षिण भारत में आर्येतर जातियों के जो सदस्य थे, वे कपि मुख हों अस्तु उन्हें वानर कहा गया हो। 'हनुमान' शब्द द्रविड़ शब्द 'आणमंदि' से निकला माना जाता है जिसका अर्थ भी 'नर-कपि' है। ऋग्वेद में इसी के संकाश 'वृषाकपि' शब्द है। वाल्मीकि ने जिन तीन संस्कृतियों को मिलाकर एक किया है वही समन्वय-भाव भारतीय संस्कृति का सुदृढ़तम आधार है और इस प्रकार 'रामायण' महाकाव्य इस संस्कृति की संपूर्ण परिभाषा।

जो आज भी प्रचलन में हैं। उधर **राहुल सांकृत्यान**जी बौद्ध धर्म के संदर्भ में लिखते हैं कि 'आठवीं शताब्दी में बुद्ध की सीधी सादी शिक्षाओं से बौद्ध संप्रदायिकों का विश्वास उठ गया जो वज्रयान गर्भित महायान के अनुयायी हो चुके थे और वेमनगढ़ंत हजारों लोकोत्तर कथाओं पर विश्वास करते थे'।[14.] इसी में शाक्त मत, वज्रयानीयोग साधना, तंत्र मार्ग, हठ योग, आदि सभी का आगे चलकर मिश्रण होता गया और साधना की उल्टी धारा भी प्रवहमान हुई। बौद्ध मत का सामाजिक कृतकार्य था जाति प्रथा को चुनौती व स्वतंत्र प्रज्ञा का स्फुरण। धीरे धीरे यह भारत में सनातन पंथ में लोपित हो गया। इसके पश्चात् उस इस्लाम का रूप प्रवेश किया जिससे आज तक सामञ्जस्य साधना सरल कार्य नहीं हो सका।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति का आधुनिक परिच्छेद '**वैश्विक संसर्ग की संस्कृति**' के ऐतिहासिक आधार पर हमारे समक्ष उपस्थित होता है। सिन्धु सभ्यता वालों का सुमेर और बेबिलोन से संपर्क विद्वानों ने सिद्ध किया है। इसी प्रकार गणित, दर्शन,

ज्योतिष, रसायन, चिकित्सा आदि को लेकर बाली द्वीप, यवद्वीप, सुमात्रा, बोर्नियो, बौद्धमत को लेकर बर्मा, जापान, चीन आदि से भी संपृक्त रहा। रोम से भारत का पुराना परिचय रहा। ई०पू० 400 के सिकंदर को हम कैसे विस्मृत कर सकते हैं, किंतु भारत में यह मान्यता होने पर कि यूरोप या बाहरी नाता पाप है यहाँ के लोग संसार से कट गये उधर यूरोप ने फिर से भारत को खोज निकाला और वास्को-डि-गामा का कालीकट के राजा जमोरिन द्वारा स्वागत किया गया। फिर ईस्वी सन् 1648 में हॉलैंड के डचों ने, गोवा, दमन और दीयू के सिवा अन्य स्थान से पुर्तगालियों को निकाल दिया। जो पुर्तगाली समुद्र तक भी अपना शासन कर रहे थे, उनके भारतीय स्त्रियों से संबंध होने पर यूरेशियन जाति भी हुई और बाद में अंग्रेजों ने आकर भारत को पुन: विश्व संस्कृति का केंद्र ही बना दिया, जब सभी की नज़र भारत की प्राचीन विरासत की ओर टिकी। इस तरह भारतीयों पर शासन करने वाले अंग्रेजों के जाने के बाद आजाद भारत अपनी संस्कृति के नवीन गोपुर में प्रवेश करता है, जिसके विषय में अधिक कुछ कहना भी व्यर्थ होगा क्योंकि यह आधुनिकता बोध है सतत जारी जिसमें शिक्षा, कृषि, अनुसंधान, वाणिज्य, विज्ञान, अंतरिक्ष इत्यादि सैकड़ों क्षेत्र में भारत आज पुन: विश्वजनीन सभ्यता का चाक्षुष्य बना है। आज यही भारतीय संस्कृति अपने पैरों पर नए प्रतिमान गढ़ रही है और ***इतिहास, समाज एवं साहित्य के वातायन*** से नेत्र निमीलन करती हुई एक बार फिर वही गीत दोहरा रही है:

" गायन्ति देवा: किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।

स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूय: पुरुषा: सुरत्वात्" ।। **(विष्णुपुराण 2/3/24)**

स्वर्ग में भी देवगण यही निरंतर गाते हैं कि जिसने भारतवर्ष में जन्म लिया है, वे पुरुष हम देवताओं की अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. दिनकर 'रामधारी सिंह', प्रथम प्रकाशन- 1956 ई०, संस्करण -तीसरा; *संस्कृति के चार अध्याय,* लोक भारती प्रकाशन; पृ० 28. ।
2. उद्धरण वही० पृ० 37 ।
3. विद्यालंकार 'सत्यकेतु', (डी०लिट्०पेरिस), प्रकाशन-अगस्त,1953 ई०, सं०-प्रथम; *भारत का प्राचीन इतिहास,* सरस्वती सदन, मसूरी उ०प्र०; पृ०129. ।
4. इलियट 'चार्ल्स', प्रकाशन-1921 ई०; *हिंदुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म (ऐन हिस्टोरिकल स्केच),* रूटलेज़ एण्ड कीगन प्रा० लि०; ज़िल्द-3, बुक-7, पृ० 452. आर्काईव-स्टेट सेंट्रल लाइब्रेरी, पश्चिम बंगाल, कलकत्ता-3551/03 ।
5. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-4 श्लोक सं० -13।
6. शास्त्री 'क्षितिमोहन सेन', संपादक: द्विवेदी 'हजारीप्रसाद', प्रकाशन-1940 ई० संस्करण-प्रथम; *भारतवर्ष में जातिभेद,* अभिनव भारती ग्रंथमाला, कलकत्ता; पृ० 56.।
7. जोशी 'लक्ष्मण शास्त्री' (मूल लेखक, मराठी), अनुवादक- पराड़कर 'मोरेश्वर दिनकर' प्रकाशन-1957 ई० संस्करण-प्रथम; *वैदिक संस्कृति का विकास,* साहित्य अकादमी की ओर से हिंदी ग्रंथ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई, पृ० 129.; आर्काईव – सेंट्रल आर्कियोलॉजिकल लाइब्रेरी, नई दिल्ली, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया– एस०नं० 6678।
8. वही० पृ० 111. ।
9. ऋग्वेद –मण्डल -2, सूक्त-17, श्लोक सं०-7।
10. पाणिनी , अष्टाध्यायी -4/3/98 .।
11. आचार्य द्विवेदी 'हजारीप्रसाद', प्रकाशन-1952 ई०, सं०प्रथम ; *मध्यकालीन धर्म साधना,* साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद , पृ० 118. ।
12. वही० ।
13. फ़ादर कामिल बुल्के, प्रकाशन-1950 ई०, सं० प्रथम पेपरबैक2023 ई० ; उद्धरण: ऋग्वेद-4/57/6.; *रामकथा: उत्पत्ति और विकास,* हिंदी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की ओर सेलोक भारती पेपरबैक्स; पृ०35, 36. । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, *बुद्धचर्या ;* परिच्छेद- 17.

*****

अहिल्याबाई होल्कर की सांस्कृतिक चेतना

डॉ शीतल कुमारी
सहायक आचार्य
दौलत राम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय इतिहास में स्त्रियों की भूमिका केवल पारिवारिक दायरे तक सीमित नहीं रही है, बल्कि वे शासन, समाज-सुधार और सांस्कृतिक उन्नति में भी अग्रणी रही हैं। अनेक कालखंडों में वे शक्ति, नेतृत्व और शासन का प्रतीक बनकर उभरी हैं। वैदिक युग में गार्गी, लोपामुद्रा और अपाला जैसी स्त्रियों ने ज्ञान और शिक्षा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी उपस्थिति यह दर्शाती है कि भारतीय समाज में स्त्री को आरंभ से ही बौद्धिक और सांस्कृतिक अधिकार प्राप्त थे। प्राचीन भारत में गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषियों ने ज्ञान और दर्शन की परंपरा को समृद्ध किया। वैदिक काल की स्त्रियाँ यज्ञ, शिक्षा और निर्णय प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाती थी। मौर्य और गुप्त काल में रानी चल्लमा तथा कुमारदेवी जैसी राजमाताओं ने साम्राज्य की स्थिरता और विस्तार में सक्रिय भूमिका निभाई है। इसी कड़ी में भारतीय इतिहास में राजमाता अहिल्याबाई होलकर का नाम एक अप्रतिम हस्ताक्षर के रूप में लिया जा सकता है।

मध्यकाल में अनेक स्त्रियाँ राजनीतिक और सैन्य नेतृत्व के लिए जानी जाती हैं। मराठा साम्राज्य में ताराबाई और मालवा में अहिल्याबाई होल्कर ने राजसत्ता को स्थिरता प्रदान की। अहिल्याबाई ने न केवल प्रशासनिक सुधार किए, बल्कि धार्मिक-सांस्कृतिक पुनरुत्थान में भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान भी दिया। अहिल्याबाई होल्कर ने 18वीं शताब्दी में मालवा क्षेत्र में न्यायपूर्ण, सांस्कृतिक और कल्याणकारी शासन की परंपरा स्थापित कर प्रशासन में धार्मिक सहिष्णुता, मंदिरों और धर्मस्थलों का पुनर्निर्माण, तथा जनहितकारी नीतियों का विकास भी किया। 19वीं शताब्दी में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का पराक्रम स्त्री-शक्ति की अमर गाथा है, जिसने स्वतंत्रता - संग्राम को नई ऊर्जा प्रदान की। आधुनिक काल में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का प्रतीक बनीं। उनका साहस और नेतृत्व स्त्री-शक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके अतिरिक्त, स्वतंत्र भारत में प्रथम महिला प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी जैसी नेत्री ने यह प्रमाणित किया कि भारतीय परंपरा में स्त्री-नेतृत्व की धारा सतत जीवित रही है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर नारी शक्ति को आद्या शक्ति मानते हैं और लिखते हैं कि- "यही वह शक्ति है जो जीव लोक में प्राण को वहन करती है और उसका पोषण करती है।"

भारतीय इतिहास में अनेक महान नारियाँ अपने साहस, त्याग और नेतृत्व के लिए स्मरणीय रही हैं। इसी श्रेणी में अहिल्याबाई होलकर (1725–1795) का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। वे केवल मालवा की शासक ही नहीं थीं, बल्कि एक आदर्श धर्मनिष्ठ, न्यायप्रिय और लोक कल्याणकारी रानी के रूप में इतिहास के पन्नों में जीवित हैं। वे भारतीय इतिहास में एक ऐसी आदर्श स्त्री-शासक के रूप में प्रतिष्ठित हैं, जिन्होंने शासन को केवल सत्ता तक सीमित न रखकर उसे सांस्कृतिक चेतना और लोककल्याण से जोड़ने का प्रयास किया। वे मालवा क्षेत्र की महारानी थीं, परंतु उनका कार्यक्षेत्र पूरे भारत की सांस्कृतिक धारा तक फैला हुआ था। अठारहवीं शताब्दी का भारत राजनीतिक संक्रमण और सांस्कृतिक पुनर्स्थापना का युग था। शिवाजी द्वारा स्थापित मराठा साम्राज्य ने औरंगज़ेब के बाद तीव्र

गति से विस्तार किया। पेशवाओं के नेतृत्व में मराठा साम्राज्य एक शक्तिशाली शक्ति के रूप में उभरा। इस प्रकार, 18वीं शताब्दी का भारत राजनीतिक उथल-पुथल और सांस्कृतिक पुनर्गठन का युग तो था ही किन्तु मुग़ल सत्ता के पतन ने जहाँ साम्राज्यवादी केंद्रीकरण को कमजोर किया, वहीं मराठों का उदय राष्ट्र की स्वायत्तता और शक्ति-संतुलन का नया अध्याय लेकर भी आया। इसी संक्रमणकाल में अंग्रेज़ों का भारत में राजनीतिक हस्तक्षेप प्रारंभ हुआ। मराठा शक्ति इस समय का सबसे बड़ा राजनीतिक केंद्र बनी। पेशवाओं के नेतृत्व में मराठों ने उत्तर भारत तक प्रभाव फैलाया। इसी मराठा साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग था होलकर वंश, जिसकी नींव मालवा क्षेत्र में रखी गई। मालवा, उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम को जोड़ने वाला सामरिक क्षेत्र था। इस कारण होलकर वंश का महत्व केवल क्षेत्रीय नहीं, बल्कि भू - राजनीति की दृष्टि से राजनीति में भी निर्णायक था। अहिल्याबाई होलकर इसी मराठा शक्ति के प्रतीक के रूप में प्रकट होती हैं। इन व्यापक परिवर्तनों एवं कठिन परिस्थितियों के बीच, वे न केवल अपने राज्य की संरक्षिका थीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक चेतना की संवाहिका भी बनकर उभरती हैं।

अहिल्याबाई का स्वयं का जीवन संघर्षों से घिरा हुआ था, उनका जन्म महाराष्ट्र के चौंडी गाँव में हुआ। बचपन से ही वे धार्मिक संस्कारों और मानवीय मूल्यों से संचालित थीं। किशोरावस्था में उनका विवाह खंडेराव होलकर से हुआ। किंतु, अल्पायु में ही पति और फिर ससुर मल्हार राव होलकर की मृत्यु हो गई। अहिल्याबाई के जीवन पर दुख के घोर बादल छा गए। उनके पति खंडेराव होलकर की मृत्यु के बाद और तत्पश्चात पुत्र मालेराव की असमय मृत्यु के कारण, 1767 में उन्हें राज्यसत्ता संभालनी पड़ी। यह वही समय था, जब मराठा साम्राज्य पानीपत की तीसरी लड़ाई 1761 के आघात से जूझ रहा था। ऐसे कठिन समय में अहिल्याबाई ने शासन संभालकर न केवल होलकर राज्य को स्थिर किया, बल्कि मराठों की पुनरुत्थान यात्रा में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस संदर्भ में अहिल्याबाई का शासन केवल राजनीतिक स्थिरता ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना का पुनर्जीवन भी लेकर आया।

भारतीय इतिहास में ऐसे शासकों की कमी नहीं रही जिन्होंने अपनी राजनीतिक क्षमता और सैन्य कौशल से अपनी छाप छोड़ी। परंतु कुछ व्यक्तित्व ऐसे भी हैं, जिनका योगदान केवल शासन तक सीमित न रहकर सांस्कृतिक और सामाजिक पुनर्निर्माण तक विस्तृत हुआ। इन्हीं महान विभूतियों में एक नाम अहिल्याबाई होलकर का भी है। उनकी पहचान केवल एक महिला शासक की ही नहीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक चेतना की संवाहिका के रूप में भी है। वे उस परंपरा की प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसमें सत्ता का मूल उद्देश्य केवल राजनीतिक प्रभुत्व नहीं, बल्कि धर्म, संस्कृति और लोककल्याण की रक्षा करना है। अहिल्याबाई होलकर का व्यक्तित्व केवल एक आदर्श शासिका के रूप में नहीं, बल्कि भक्ति, सेवा और न्याय की त्रिवेणी के रूप में उभरता है। उनके जीवन का आधार धार्मिक आस्था और गहन भक्ति था। वे प्रतिदिन साधु-संतों, विद्वानों तथा प्रजा के साथ संवाद करती थीं और स्वयं को भगवान की सेविका मानती थीं। उनके लिए शासन का अर्थ धर्म का पालन और लोककल्याण की साधना करना था। भक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने सेवा को जीवन का प्रधान व्रत बनाया। उन्होंने तीर्थस्थलों पर मंदिर, धर्मशालाएँ, कुएँ, बावड़ियाँ और सराय बनवाकर समाज को आधार देने का काम किया। अनेक तीर्थस्थलों का पुनर्निर्माण उनके सेवा-भाव का ही प्रतीक है। उनके कार्य केवल धार्मिक नहीं, बल्कि जनोपयोगी भी थे, जिससे समाज के हर वर्ग को लाभ मिला। न्याय की दृष्टि से अहिल्याबाई का शासन एक आदर्श माना जाता है। वे प्रजा के लिए सदैव उपलब्ध रहती थीं और किसी भी विवाद को निष्पक्षता तथा करुणा के साथ हल करती थीं। उनका न्याय धर्म और संवेदना से परिपूर्ण था, जहाँ स्त्री, दलित या शोषित सभी को समान अवसर

और संरक्षण मिलता था। "मल्हारराव की पुत्रवधू अहिल्याबाई ... न्याय करने और प्रजा को सुख देने की ऐसी विलक्षण शैली थी कि भील लोग... भी इनके सतगुणों का ज्ञान और पवित्र नाम का उच्चारण आज भी गान रूप से करते हैं..."। अहिल्याबाई नेसनातन धर्म की डगमगाती दशा को धर्म रूपी जल से सींचकर हरा-भरा बनाया था। अहिल्याबाई का व्यक्तित्व भक्ति की आध्यात्मिक गहराई, सेवा की सामाजिक उपयोगिता और न्याय की नैतिक दृढ़ता का अद्‌भुत संगम था। एक ऐसी शासिका, जिसकी दृष्टि में शासन ईश्वर की पूजा के समान था। यही कारण है कि उन्हें इतिहास में "लोकमाता" कहा जाता है।

कार्यों से उन्होंने न केवल धार्मिक आस्था को पुनर्जीवित किया, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक एकता को भी नई ऊर्जा प्रदान की। उनकी सांस्कृतिक चेतना केवल स्थापत्य या धार्मिक स्थलों तक सीमित नहीं रही। उन्होंने समाज-सुधार के क्षेत्र में भी कई महत्वपूर्ण पहल की। विधवाओं के पुनर्विवाह को प्रोत्साहन देना, निर्धनों के लिए सहायता कोष स्थापित करना तथा स्त्रियों को सुरक्षा और सम्मान प्रदान करना उनकी मानवीय सांस्कृतिक दृष्टि का परिचायक है। यह दृष्टि भारतीय संस्कृति की उस धारा से जुड़ी है, जो करुणा, सहअस्तित्व और पुनर्निर्माण पर आधारित है। भारतीय संस्कृति की जड़ें वेदों और उपनिषदों

अहिल्याबाई की सांस्कृतिक दृष्टि अत्यंत व्यापक थी। उन्होंने शासन को केवल कर-वसूली और प्रशासन तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे भारतीय संस्कृति की धरोहरों के संरक्षण और पुनर्निर्माण का माध्यम भी बनाया। वाराणसी के काशी विश्वनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण, उज्जैन के महाकालेश्वर मंदिर का जीर्णोद्धार, सोमनाथ और द्वारका जैसे प्राचीन तीर्थों का पुनःनिर्माण, तथा गंगा के घाटों की मरम्मत उनके सांस्कृतिक योगदान के सशक्त प्रमाण ही हैं। इन

तक जाती हैं। यहाँ धर्म का अर्थ मात्र आस्था या पूजा-पद्धति नहीं, बल्कि जीवन के समग्र संतुलन से है। ऋग्वेद में "एकोऽहम् बहुस्याम्" और "सर्वे भवन्तु सुखिनः" जैसे वाक्य यह संकेत देते हैं कि भारतीय संस्कृति का केंद्रीय बिंदु लोक का कल्याण रहा है। इसी कारण बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव,शक्ति और सिख परंपराएँ एक ही धरती पर सह-अस्तित्व में विकसित हुईं। इसी परंपरा को बचाने का काम अहिल्या बाई होल्कर भी करती हैं।

अहिल्याबाई का एक बड़ा योगदान यह था कि उन्होंने भारतीय संस्कृति की विविधता में निहित एकता को मूर्त रूप दिया। काशी से सोमनाथ और द्वारका तक मंदिरों का पुनर्निर्माण यह संकेत करता है कि वे केवल मालवा की रानी नहीं थीं, बल्कि समूची भारत -वर्षीय संस्कृति की संरक्षिका थीं। दि टाइम्स ऑफ इंडिया नागपूर ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक श्री मोहन भागवत जी के व्याख्यान को छापा था जिसमें उन्होंने अहिल्याबाई के लिए लिखा है- "She ruled with compassion, strength, and simplicity, seeing herself not as a monarch but as a servant of her people, akin to a nurturing mother." यह व्याख्यात्मक उद्धरण अहिल्याबाई के शासन-नीतियों की माँ जैसी सहानुभूति और नैतिक नेतृत्व को रेखांकित करता है। वास्तव में अहिल्याबाई ने एक मां की तरह राष्ट्र की सेवा की। स्वामी विवेकानंद लिखते हैं कि-"भारत में स्त्री-जीवन के आदर्श का आरंभ और अंत मातृत्व में ही होता है। प्रत्येक हिंदू के मन में 'स्त्री' शब्द के उच्चारण से मातृत्व का स्मरण हो आता है, और हमारे यहाँ ईश्वर को 'माँ' कहा जाता है। पश्चिम में स्त्री पत्नी है। वहाँ पत्नी के रूप में ही स्त्रीत्व का भाव केंद्रित है। भारत में जनसाधारण समस्त स्त्रीत्व को मातृत्व में ही केंद्रीभूत मानते हैं।" स्वामी विवेकानंद स्त्री-शिक्षा, स्त्री-स्वावलंबन, विधवा-विवाह इत्यादि कई महत्वपूर्ण स्त्री-प्रश्नों पर विचार किया हैं, उनकी दृष्टि में 'मातृत्व' ही वास्तव में नारीत्व का पूर्ण स्वरूप है। ऐसी ही दृष्टि अहिल्याबाई के यहाँ दिखाई देती है। अहिल्याबाई का यह दृष्टिकोण आधुनिक राष्ट्रवाद के प्रारंभिक बीजों की तरह है, जहाँ सांस्कृतिक एकता राजनीतिक सीमाओं से ऊपर उठकर राष्ट्रीय पहचान का आधार बनती हैं। अहिल्याबाई केवल शासिका ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण की संवाहिका भी थीं। उन्होंने काशी, गया, द्वारका, उज्जैन, सोमनाथ, रामेश्वरम जैसे प्रमुख तीर्थस्थलों का जीर्णोद्धार कराया। काशी में काशी विश्वनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण उनके ही प्रयासों का परिणाम था। इस प्रकार, जब भारत राजनीतिक अस्थिरता और विदेशी हस्तक्षेप के दौर से गुजर रहा था, तब अहिल्याबाई ने सांस्कृतिक चेतना को सुरक्षित रखने को अपना परम धर्म मना। अहिल्याबाई ने प्रशासन को न्यायप्रिय और संवेदनशील बनाया। उन्होंने करों को जनता के अनुकूल बनाया, व्यापार को प्रोत्साहित किया और आम जन की समस्याओं को बिना किसी माध्यम के सुना।उन्होंने वाराणसी के काशी विश्वनाथ मंदिर, सोमनाथ मंदिर, महाकाल, द्वारका, रामेश्वरम्, गंगोत्री घाट, कुण्ड, धर्मशालाओं और अन्नक्षेत्रों अनेक धार्मिक-सांस्कृतिक स्थलों का पुनर्निर्माण ही नहीं कराया बल्कि अहिल्याबाई का योगदान यात्रा-सुविधाओं के क्षेत्र में भी बहुत महत्वपूर्ण है। सराय, कुएँ, पुल और मार्ग का निर्माण करना उनके संकल्प का ही प्रतीक हैं।

शासन का दायित्व प्रजा को केवल सुरक्षा प्रदान करना नहीं, बल्कि जीवन को सुगम और समृद्ध बनाना भी है। इससे न केवल धार्मिक आस्था सुदृढ़ हुई, बल्कि भारत की सांस्कृतिक एकता को भी बल मिला। महात्मा गांधी अहिल्याबाई को एक आदर्श शासक मानते थे। गांधीजी के मानना था कि

अहिल्याबाई ने जिस तरह से शासन को सेवा, भक्ति और न्याय का साधन बनाया, वह "रामराज्य" की संकल्पना के सबसे समीप था। गांधीजी मानते थे कि उनकी शासन-प्रणाली ने भारतीय परंपरा में यह सन्देश दिया कि सत्ता का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ नहीं, बल्कि जनकल्याण और धर्म-संरक्षण होना चाहिए। गांधीजी ने कहा था कि 'अहिल्याबाई ने जनता के सुख-दुख को अपना कर्तव्य माना। उनका शासन भारतीय संस्कृति में आदर्श लोकशाही का प्रतीक है'। अहिल्याबाई होलकर का शासन केवल धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें कृषि और उद्योग के विकास की गहरी समझ भी दिखाई देती है। अठारहवीं शताब्दी के अशांत राजनीतिक वातावरण में उन्होंने यह समझा कि किसी भी राज्य की समृद्धि का आधार उसकी कृषि और स्थानीय उद्योग ही होते हैं। अहिल्याबाई ने किसानों को अपनी प्रजा का मेरुदंड समझा। उन्होंने कृषि भूमि पर करों को न्यायसंगत और संतुलित बनाया, ताकि किसान उत्पादन के लिए उत्साहित हों। सूखा या बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाओं की स्थिति में वे करों में राहत देती थीं। किसानों को बीज, पशु और सिंचाई के साधनों में भी सहायता प्रदान कर उन्होंने कृषि उत्पादन को स्थिर बनाया। उनके शासनकाल में न केवल खाद्यान्न उत्पादन बढ़ा, बल्कि ग्रामीण समाज में स्थिरता भी आई। महेश्वर नगर, जो नर्मदा तट पर स्थित है, अहिल्याबाई के समय में हस्तकरघा बुनाई का प्रमुख केंद्र बन गया। उन्होंने न केवल स्थानीय बुनकरों को संरक्षण दिया, बल्कि अन्य क्षेत्रों से भी कुशल शिल्पियों को महेश्वर आमंत्रित किया। इसके परिणामस्वरूप महेश्वरी साड़ी की परंपरा विकसित हुई। महेश्वर की बुनकरी केवल वस्त्र उत्पादन नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक धरोहर थी। अहिल्याबाई ने इसे सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण का माध्यम बनाया। महेश्वरी साड़ियों की सूक्ष्मता और सुंदरता आज भी उनके दूरदर्शी संरक्षण का प्रमाण है। वस्त्र-उद्योग से न केवल स्थानीय लोगों को आजीविका मिली, बल्कि महेश्वर एक व्यापारिक केंद्र के रूप में भी प्रतिष्ठित हुआ। अहिल्याबाई का शासन इस बात का उदाहरण है कि कैसे एक दूरदर्शी शासिका ने कृषि को आधार और उद्योग को सहारा बनाकर अपने राज्य को समृद्धि की राह पर अग्रसर किया। महेश्वर की बुनकरी परंपरा आज भी उनकी आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि का जीवंत उदाहरण है।

वैसे तो, भारतीय इतिहास में अनेक स्त्रियों ने सत्ता की बागड़ोर को संभाला, जिसमें रानी दुर्गावती, रानी लक्ष्मीबाई जैसी कई स्त्रियों के नाम इतिहास के पन्नों में दर्ज हैं। रजिया ने सत्ता-संघर्ष का सामना किया तो दुर्गावती ने अपने राज्य और स्वाभिमान की रक्षा में वीरगति प्राप्त की। लक्ष्मीबाई स्वतंत्रता संग्राम का प्रतीक बन कर वीरगति को प्राप्त हुई। परंतु, अहिल्याबाई इन सबसे अलग थी क्योंकि उनका योगदान युद्धक्षेत्र से अधिक सांस्कृतिक - चेतना और समाज - सुधार में दिखाई देता है। उनका दृष्टिकोण समाज सुधारक था। उन्होंने विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति दी, निर्धनों को सहयोग देती थीं और स्त्रियों की सुरक्षा का ध्यान रखती थीं।

अहिल्याबाई के संदर्भ में आचार्य **विनोवा भावे** का कथन बहुत सही ज्ञात होता है, **वे कहते हैं कि- "स्त्रियाँ, सुरक्षित नहीं, स्वरक्षित होनी चाहिए।** छोटे बच्चों का सुरक्षित रहना ठीक है, परन्तु स्त्रियों को पुरुषों की तरह स्वरक्षित होना चाहिए।" अहिल्याबाई ने अपने शासन काल में स्त्रियों की सहारा मात्र नहीं, बनी बल्कि स्त्री - स्वावलंबन का मार्ग भी दिखाया। अहिल्याबाई का जीवन इस सत्य को सिद्ध करता है कि भारतीय नारी केवल गृहस्थ जीवन तक सीमित नहीं रहती, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर वह शासन, समाज और संस्कृति की धारा को भी दिशा दे सकती है। पति और ससुर की मृत्यु के बाद जब उनके सामने राजनीतिक संकट आया, तब उन्होंने धैर्य, साहस और बुद्धिमत्ता से राज्य की बागडोर संभाला। उनके शासनकाल में मालवा एक

समृद्ध और स्थिर प्रदेश के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। भारतीय इतिहास की अन्य नारियों—रजिया सुल्तान, रानी दुर्गावती, रानी लक्ष्मीबाई—की भाँति अहिल्याबाई भी इस परंपरा का हिस्सा हैं, जिन्होंने यह दिखाया कि स्त्री केवल अनुयायी नहीं, बल्कि पथप्रदर्शक और शासक भी हो सकती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, के सरकार्यवाह ने अपने वक्तव्य में कहा है कि "लोकमाता अहिल्याबाई होल्कर महिलाओं के कर्तृत्व की क्षमता की प्रतीक हैं... दुर्भाग्य से उनको वैधव्य प्राप्त हुआ। लेकिन एक अकेली महिला होने के बाद भी अपने बड़े राज्य को केवल सम्भालना नहीं, बड़ा करना... राज्यकर्ता कैसा हो—यह उनका आदर्श है।" उनका शासन इस बात का प्रतीक है कि सत्ता केवल शासन के लिए नहीं, बल्कि संवेदना और सांस्कृतिक संरक्षण का साधन भी हो सकती है।

अहिल्याबाई होलकर ने यह प्रमाणित किया कि एक शासक केवल राज्य का रक्षक नहीं होता, बल्कि संस्कृति, परंपरा और समाज की चेतना का संवाहक भी है। इसीलिए वे भारतीय इतिहास में सत्ता और संस्कृति के आदर्श संगम के रूप में याद की जाती हैं। उनका जीवन और कार्यभार भारतीय सांस्कृतिक चेतना के संवाद में एक अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत करता है। अठारहवीं सदी के राजनैतिक उथल-पुथल भरे समय में वे न केवल मालवा क्षेत्र अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष के सार्वजनिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण कर दिशा दिखाने का काम करती है। अतः आज जब भारतीय समाज आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया में अपनी जड़ों से कटता जा रहा है, ऐसे में अहिल्याबाई का आदर्श अत्यंत प्रासंगिक है। उनके कार्य हमें यह बताते हैं कि संस्कृति केवल अतीत की स्मृति नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य को दिशा देने वाली शक्ति है। उनकी सामाजिक नीतियाँ, स्त्री-सशक्तिकरण, सामाजिक न्याय और धार्मिक सहिष्णुता हमें मार्ग दिखाने का काम करते हैं। उनकी सांस्कृतिक चेतना यह सिखाती है कि सत्ता का लक्ष्य केवल शासन नहीं, बल्कि समाज और संस्कृति का पुनर्निर्माण करना होना चाहिए। अहिल्याबाई होलकर भारतीय इतिहास की उन विरल विभूतियों में हैं जिन्होंने सत्ता और संस्कृति, राजनीति और धर्म, समाज और लोककल्याण को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास ही नहीं किया बल्कि आने वाली पीढ़ी का मार्ग भी प्रशस्त किया। उनका जीवन इस सत्य को प्रतिपादित करता है कि भारतीय नारी केवल अनुयायी नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना की वाहिका और मार्गदर्शक भी हो सकती है।

काशी से सोमनाथ और द्वारका से गंगा घाटों तक उनके कार्य भारतीय सांस्कृतिक एकता के प्रतीक हैं। उनकी नीतियाँ आज भी सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आदर्श प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार, 18वीं शताब्दी का भारत जहाँ मुग़ल सत्ता के पतन, मराठों के उदय और अंग्रेज़ों के प्रवेश का गवाह बना, वहीं अहिल्याबाई होलकर इस युग की महान नारी शक्ति के रूप में सामने आईं। उन्होंने न केवल होलकर वंश और मालवा को स्थिर किया, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक धारा को पुनर्जीवित करने का अद्वितीय कार्य किया। वास्तव में, अहिल्याबाई होलकर की सांस्कृतिक- चेतना भारत के जीवंत परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने दिखाया कि संस्कृति केवल अतीत का गौरव नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के समाज को दिशा देने वाली शक्ति है। इसीलिए उन्हें भारतीय इतिहास में केवल एक कुशल शासक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उदघोषिका कहा जाए तो गलत न होगा।

संदर्भ सूची-

1. पालीवाल, कृष्णदत्त (संपादक-संकलन); नारी विमर्श की भारतीय परंपरा; सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, कनॉट प्लेस सर्कस, नई दिल्ली; प्रथम संस्करण 2014 ई.
2. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वेबसाइट द टाइम्स ऑफ इंडिया, 31 मई 2025

*****

पंच परिवर्तन: समग्र विकास का भारतीय दृष्टिकोण

डॉ. प्रशान्त वर्मा,
दर्शनशास्त्र विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति केवल स्मारकों, शास्त्रों अथवा लोकगीतों में संरक्षित कोई स्थिर वस्तु नहीं है; यह एक जीवंत, गतिशील और आत्मस्फूर्त प्रवाह हैजिसने सहस्त्राब्दियों से इस भूखंड के जनजीवन को दिशा दी है। यहाँ संस्कृति का अर्थ केवल कला, स्थापत्य या वेशभूषा तक सीमित नहीं बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निहित वह मूल्य व्यवस्था है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है और समाज को सभ्यता में रूपांतरित करती है।vवर्तमान वैश्विक परिदृश्य में जहाँ भौतिक प्रगति की गति तीव्र है, वहीं सामाजिक, पारिवारिक और नैतिक मूल्यों में क्षरण की प्रवृत्ति भी उतनी ही तीव्रता से परिलक्षित हो रही है। परिणामस्वरूप विकास का अर्थ केवल सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि तक सीमित हो गया है जबकि वास्तविक विकास वह है जिसमें आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ नैतिक उत्थान, सांस्कृतिक पुनरुद्धार और पर्यावरणीय संतुलनभी सुनिश्चित हो।

इसी संदर्भ में "पंच परिवर्तन" का विचार भारतीय समाज के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए एक मार्गदर्शक सूत्र के रूप में उभरता है। यह पाँच बिंदु *परिवार जागरूकता, पर्यावरण संरक्षण, स्वदेशी जीवन शैली, सामाजिक समरसता और नागरिक कर्तव्य* केवल नीतिगत सुझाव नहीं हैंबल्कि यह हमारेप्राचीन ज्ञान-विवेक का पुनर्स्मरणहैंजिन्हें युगानुकूल रूप में पुनः प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। *ऋग्वेद* का उद्घोष है-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

अर्थात साथ चलो, साथ बोलो, अपने मन को एक करो, जैसे पूर्वज देवताओं ने एकमत होकर यज्ञ में भाग लिया था।यह मंत्र स्पष्ट करता है कि भारतीय दृष्टि में प्रगति का मार्ग केवल व्यक्तिगत उत्कृष्टता से नहीं बल्कि सामूहिक चेतना और सहकार्य से प्रशस्त होता है। पंच परिवर्तन इसी सामूहिक चेतना का आधुनिक रूप हैजो परिवार से लेकर राष्ट्र और पर्यावरण से लेकर वैश्विक समाज तक, प्रत्येक स्तर पर संतुलन और सामंजस्य स्थापित करने की प्रेरणा देता है।

अतः इस आलेख में पंच परिवर्तन के प्रत्येक स्तंभ कोप्राचीन शास्त्रीय संदर्भों, ऐतिहासिक उदाहरणों और समकालीन परिस्थितियों के आलोक में देखा जायेगा ताकि यह स्पष्ट हो सके कि सांस्कृतिक जागरण के माध्यम से ही विकसित भारत का सपना साकार हो सकता है।

परिवार जागरूकता

भारतीय सभ्यता में परिवार केवल रक्त-संबंधों की इकाई नहीं बल्कि संस्कारों का प्रथम विद्यालय है। यहाँ जन्म लेने वाला शिशु बोलना, चलना और जीवन-व्यवहार के नियम सीखने के साथ-साथ धर्म, कर्तव्य और आचार का पहला पाठ भी यहीं पढ़ता है। वैदिक युग से ही "गृहस्थ आश्रम" को चार आश्रमों में केन्द्रीय स्थान दिया गया क्योंकि यही वह चरण है जहाँ व्यक्ति न केवल अपने परिवार का पालन करता है बल्कि समाज और राष्ट्र की आर्थिक एवं सांस्कृतिक धुरी को भी संभालता है। संयुक्त

परिवार प्रणाली में बड़े-बुजुर्ग अनुभव और नीति के स्रोत, माता-पिता गुरु के समान मार्गदर्शक और बच्चे परंपरा के वाहक माने जाते है। पीढ़ियों के इस अविच्छिन्न संवाद ने ही भारतीय समाज को सांस्कृतिक निरंतरता और स्थायित्व प्रदान किया। परंतु आज, नगरीकरण, भौतिकवादी प्रतिस्पर्धा और डिजिटल युग की एकाकी प्रवृत्ति ने पारिवारिक ताने-बाने को कमजोर किया है। संवाद की जगह मौन, और सहयोग की जगह आत्मकेंद्रितता ने ले ली है।

ऐसे में "परिवार जागरूकता" का अर्थ परिवार को पुनः **संस्कार, संवाद और सहअस्तित्व** के मूल्यों पर प्रतिष्ठित करना है। इसमें पीढ़ियों के बीच संवाद बढ़ाना, पारिवारिक अनुष्ठानों को पुनर्जीवित करना और सामूहिक उत्तरदायित्व को पुनः स्थापित करना शामिल है।

महाभारत में कहा गया है -

पिता माता गुरुश्चैव त्रयो धर्मस्य हेतवः।
तेषामपचारो योऽस्ति स धर्मात्प्रच्युतो नरः॥

अर्थात पिता, माता और गुरु, ये तीन धर्म के प्रमुख आधार हैं; जो उनका अपमान करता है, वह धर्म से च्युत हो जाता है। यह श्लोक स्पष्ट करता है कि परिवार केवल भावनात्मक सहारा नहीं, बल्कि धर्म और संस्कृति का मूल स्तंभ है। इसी तरह *मनुस्मृति* में गृहस्थ को सभी आश्रमों का पोषक कहा गया है -

गृहस्थ एव धर्मस्य मूलं स्मृतमनेकशः।
सर्वाश्रमाणां धार्यत्वात् स एवाभ्यधिकः स्मृतः॥

गृहस्थ ही धर्म का मूल है क्योंकि वह सभी आश्रमों का पालन करता है; इसीलिए उसे श्रेष्ठ माना गया है।परिवार जागरूकता के अंतर्गत आधुनिक शिक्षा के साथमूल्य-शिक्षा और पारिवारिक संस्कार को संतुलित करना होगा। उदाहरण के लिए परिवार में भोजन का सामूहिक आयोजन, बच्चों को मौखिक परंपराओं और कहानियों के माध्यम से इतिहास और नैतिकता सिखाना तथा बुजुर्गों को निर्णय-प्रक्रिया में सम्मानपूर्वक शामिल करना, ये सभी कदम इस परिवर्तन को जीवंत बना सकते हैं। यदि परिवार एक सुदृढ़ इकाई के रूप में जागरूक रहेगातो यह न केवल व्यक्तियों को नैतिक दृष्टि से सशक्त करेगा बल्कि समाज की सामूहिक चेतना को भी उच्च स्तर पर ले जाएगा। इस प्रकार परिवार जागरूकता केवल निजी जीवन का विषय नहीं बल्कि राष्ट्रीय पुनर्जागरण का आधार-स्तंभ है।

पर्यावरण संरक्षण

भारतीय जीवन-दर्शन में प्रकृति केवल बाहरी जगत की भौतिक वस्तु नहीं बल्कि जीवित चेतना का स्वरूप है। हमारे ऋषियों ने उसे *जड़* और *चेतन* के बीच कृत्रिम विभाजन में नहीं बाँटा बल्कि मानव, वनस्पति, जीव-जंतु, नदियाँ, पर्वत और आकाश सभी को एक ही सर्वव्यापी जीवन-जालके सूत्र में पिरोया है। इसीलिए वेदों में प्राकृतिक तत्त्वों की स्तुति मात्र आराधना नहीं बल्कि सहजीवन का अनुबंध है। *अथर्ववेद* के पवित्र शब्द —**माता भूमिःपुत्रोऽहं पृथिव्याः।** यह पृथ्वी मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ। यह उद्घोष स्मरण कराता है कि मनुष्य इस पृथ्वी के स्वामी नहीं बल्कि उसके स्नेही संतान हैं और संतान का कर्तव्य पोषण, सेवा और संरक्षण होता हैन कि शोषण करना।

प्राचीन भारत में पर्यावरण संरक्षण केवल नीतिगत आदेश नहीं था; वह जनजीवन की गहरी परंपरा थी। नदी को "गंगा माँ" कहने का भाव, वट-वृक्ष और पीपल की पूजा का विधान, पर्वतों और वनों को देवत्व से जोड़ना, ये सब इस सत्य के प्रतीक थे कि प्राकृतिक संसाधनों के साथ व्यवहार केवल उपयोग का नहीं बल्कि सम्मान और संतुलन का होना चाहिए। हमारे पूर्वजों ने जल-संरक्षण हेतु बावड़ियों और तालाबों का निर्माण किया, वनों की रक्षा हेतु नियम बनाए और भूमि को उर्वर बनाए रखने के लिए फसल-चक्र अपनाया था।

इतिहास इस भावना के असंख्य प्रमाण देता है। राजस्थान के बिश्नोई समाज का बलिदान तो विश्व में अद्वितीय है, 18वीं शताब्दी में अमृता देवी के नेतृत्व में सैकड़ों ग्रामीणों ने खेजड़ी वृक्षों को कटने से बचाने के लिए अपने प्राण न्यौछावर कर दिए। यह घटना इस तथ्य की जीवित गवाही है कि यहाँ प्रकृति-रक्षा *जीवन-मूल्य* थीन कि केवल आर्थिक लाभ-हानि के प्रश्न तक सीमित थी। आज जब विज्ञान और तकनीक ने हमारी भौतिक सुविधाओं का दायरा बढ़ा दिया है तो मनुष्यों ने उसी अनुपात में प्रकृति के साथ अपने रिश्ते को खोखला कर दिया है। वनों की कटाई, औद्योगिक प्रदूषण, ग्लेशियरों का पिघलना, वर्षा चक्र का असंतुलन ये सभी इस बात के संकेत हैं कि *उपभोग* को *उपकार* पर और *लाभ* को *लाभांश* से ऊपर रख दिया है। इस संकट का समाधान केवल यांत्रिक तकनीकों से संभव नहीं बल्कि उस दृष्टिकोण के पुनर्जागरण से होगा जिसमें प्रकृति के साथ संबंध धर्म के समान पवित्र माना गया था।

मनुस्मृति में कहा गया है—

अदित्यं चन्द्रमां चैव वायुमग्निं जलं तथा।
न निन्द्यात् तानि सर्वाणि पूजयेन्नियतव्रतः॥

इसका तात्पर्य है कि सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि और जल इनका कभी अपमान न करो; व्रत का पालन करने वाला इन्हें सदा पूजे और संरक्षित करें। इस दृष्टि में पर्यावरण संरक्षण केवल वृक्षारोपण या नीतियों तक सीमित नहीं बल्कि यह मनुष्य के आचार, व्यवहार और उपभोग की आदतों में आंतरिक परिवर्तन की मांग करता है। जब उपभोग की अंधी दौड़ छोड़कर संतुलित उपयोग और पुनर्भरण की संस्कृति अपनाएँगे तभी यह पृथ्वी हमारी आने वाली पीढ़ियों के लिए उतनी ही जीवनदायिनी और सौम्य बनी रहेगी जितनी हमारे पूर्वजों के लिए थी।

पंच परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण वह धुरी है जिस पर शेष चार परिवर्तन भी टिके हैं क्योंकि स्वस्थ पर्यावरण के बिना परिवार का पोषण, समाज की समरसता, स्वदेशी जीवन शैली और नागरिक कर्तव्य सब कुछ असंतुलित हो जाएगा। इसलिए प्रकृति के साथ पुनः यह पवित्र संधि करना केवल एक विकल्प नहीं बल्कि मानव सभ्यता के अस्तित्व की अनिवार्य शर्त है।

स्वदेशी जीवन शैली

भारतीय संस्कृति में "स्वदेशी" केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता का सूत्र नहीं बल्कि आत्मगौरव और सांस्कृतिक अस्मिता की अभिव्यक्ति है। यह वह दृष्टि है जिसमें जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति यथासंभव अपने परिवेश और संसाधनों से की जाती है ताकि समाज आर्थिक रूप से स्वतंत्र और सांस्कृतिक रूप से आत्मविश्वासी बना रहे। प्राचीन काल से ही भारत के गाँव-कस्बे न केवल कृषि मेंबल्कि वस्त्र, धातु-कला, मिट्टी के शिल्प, और औषधि-निर्माण में भी आत्मनिर्भर थे। यही कारण था कि भारत को "सुवर्णभूमि" और "विश्व की कार्यशाला" कहा जाता था।

अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य ने स्पष्ट लिखा है कि एक सुदृढ़ राज्य वही है जो अपने उत्पादन और विनिर्माण में दूसरों पर अत्यधिक निर्भर न हो। यह विचार मात्र आर्थिक नीति नहीं बल्कि सांस्कृतिक सुरक्षा का भी आधार है क्योंकि उत्पादन के साथ ही कला, शिल्प, और परंपरा का संरक्षण भी जुड़ा होता है। वस्त्र-निर्माण की करघा परंपरा, तांबे और कांसे के बर्तन, लकड़ी की नक्काशी और हस्तनिर्मित आभूषण ये सब न केवल उपयोगी थे बल्कि लोकजीवन के सांस्कृतिक प्रतीक भी थे।

स्वदेशी जीवन शैली का सार इस श्लोक में निहित है—स्वदेशेपूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते। अर्थात राजा अपने देश में पूज्य होता हैपर विद्वान् सर्वत्र सम्मान पाता है।यदि हम "विद्वान्" शब्द को यहाँ "कुशल और आत्मनिर्भर कारीगर, उत्पादक, और समाज" के रूप में समझेंतो यह स्पष्ट हो जाता है कि जो समाज अपने कौशल और संसाधनों में पारंगत

है वही वैश्विक मंच पर सम्मान पाता है। औपनिवेशिक काल ने इस आत्मनिर्भर संरचना को गहरी क्षति पहुँचाई। विदेशी वस्तुओं और मशीननिर्मित सामान के प्रसार ने स्थानीय शिल्प और उद्योग को कमजोर कर दिया। परिणामस्वरूप आर्थिक निर्भरता के साथ-साथ सांस्कृतिक आत्मविश्वास भी क्षीण हुआ। परंतु स्वतंत्रता के बाद से और विशेषकर वर्तमान समय मेंएक बार फिर यह चेतना जागृत हो रही है कि केवल आर्थिक वृद्धि के आंकड़े पर्याप्त नहीं हैं बल्कि जरूरी है कि यह वृद्धिस्थानीय संसाधनों, कौशल और परंपराओं पर आधारित हो।

आज स्वदेशी जीवन शैली का अर्थ केवल देसी वस्त्र पहनना या स्थानीय सामान खरीदना नहीं बल्कि यह एक जीवन दृष्टि है जिसमें उपभोग संयमित हो, उत्पादन टिकाऊ हो और अर्थव्यवस्था का लाभ अधिक से अधिक स्थानीय समुदायों तक पहुँचे। जैविक खेती, हस्तशिल्प को बढ़ावा, ग्रामीण पर्यटनऔर स्थानीय उद्यमिता इसके आधुनिक रूप हैं। स्वदेशी अपनाना न केवल आर्थिक मजबूती का उपाय है बल्कि यह हमारे सांस्कृतिक DNA को पुनर्जीवित करने का माध्यम भी है। यह उस संबंध को पुनः स्थापित करता है जिसमें व्यक्ति, समाज और प्रकृति तीनों परस्पर सहयोग से संतुलन बनाए रखते हैं। इसीलिए पंच परिवर्तन के ढाँचे में स्वदेशी जीवन शैली वह स्तंभ है जो शेष सभी परिवर्तनों को संसाधन और आत्मविश्वास प्रदान करता है।

सामाजिक समरसता

भारतीय संस्कृति का सबसे अद्वितीय पक्ष उसकी विविधता में एकता की भावना है। यह भूमि भाषाओं, जातियों, आस्थाओं, वेशभूषाओं और रीति-रिवाजों की असंख्य धाराओं से बनी है परंतु इन सभी में एक गहरे स्तर पर सांस्कृतिक चेतना का अद्वैत प्रवाहित होता है। यहाँ भिन्नता को विभाजन का कारण नहीं, बल्कि सौंदर्य का विस्तार माना गया है। यही कारण है कि भारत की आत्मा को परिभाषित करने वाले वाक्य *महाउपनिषद* से आते हैं—

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

अर्थात यह अपना है, यह पराया है ऐसी गणना संकीर्ण बुद्धि वालों की है; उदार हृदय वालों के लिए तो पूरी पृथ्वी ही परिवार है। इस दृष्टि में सामाजिक समरसता कोई राजनीतिक समझौता नहीं बल्कि आत्मा का स्वाभाविक गुण है। यह केवल सहिष्णुता तक सीमित नहीं बल्कि सक्रिय सहयोग और परस्पर सम्मान का भाव है। इतिहास में भारत ने बार-बार यह सिद्ध किया है कि विविधता का पोषण ही उसकी शक्ति है। भक्ति आंदोलन में कबीर, तुलसी, मीरा और गुरु नानक जैसे संतों ने समाज को जाति और पंथ की सीमाओं से ऊपर उठने का संदेश दिया। सूफी संतों ने अपने ख़ानक़ाहों को सभी के लिए खुला रखा जहाँ जाति या धर्म पूछने की प्रथा नहीं थी। ग्राम्य जीवन में मेलों, उत्सवों और सामूहिक अनुष्ठानों ने विभिन्न समुदायों को एक साथ जोड़ा। यह समरसता ही वह आधार थी जिस पर स्वतंत्रता संग्राम का व्यापक जनसमर्थन खड़ा हुआ।

समकालीन समय में भी इस समरसता की आवश्यकता उतनी ही बल्कि और अधिक है। आज सामाजिक विभाजन के नए रूप भाषाई राजनीति, क्षेत्रीय प्रतिस्पर्धा, सांप्रदायिक अविश्वास हमारे साझा भविष्य को चुनौती दे रहे हैं। इनसे निपटने का मार्ग केवल प्रशासनिक उपायों से नहीं बल्कि सांस्कृतिक पुनर्स्मरण से संभव है। जब हम अपने उत्सवों में, अपनी लोककथाओं में और अपने पड़ोस के सहयोग में इस विविधता का उत्सव मनाते हैं तभी समरसता पुनर्जीवित होती है। सामाजिक समरसता का तात्पर्य यह भी है कि समाज के प्रत्येक वर्ग को समान अवसर और सम्मान मिले। यह सम्मान केवल कानून से नहीं बल्कि मन की गहराइयों से आना चाहिए। जब किसान के श्रम को, कारीगर के कौशल कोऔर

शिक्षक के ज्ञान को समान प्रतिष्ठा मिलेगीतब यह एकता केवल नारों में नहीं बल्कि व्यवहार में दिखेगी। इस प्रकार सामाजिक समरसता पंच परिवर्तन का वह सूत्र है जो परिवार, पर्यावरण, स्वदेशी और नागरिक कर्तव्य, इन सभी को एक ही धागे में पिरो देता है। बिना इसके प्रत्येक परिवर्तन खंडित रहेगा; और इसके साथ, वे सब एक जीवित, ऊर्जावान और सामूहिक चेतना का रूप ले लेंगे।

नागरिक कर्तव्य

भारतीय परंपरा में "कर्तव्य" केवल बाहरी अनुशासन का परिणाम नहीं बल्कि आंतरिक धर्मबोध से उत्पन्न होता है। प्राचीन ग्रंथों में अधिकार की चर्चा से पहले कर्तव्य का विधान आता है क्योंकि अधिकार का संरक्षण तभी संभव है जब कर्तव्य का पालन होता है । यही कारण है कि *महाभारत* में भी राजधर्म और प्रजाधर्म को एक-दूसरे के पूरक के रूप में प्रस्तुत किया गया है क्योंकि राजा का कर्तव्य प्रजा की रक्षा है और प्रजा का कर्तव्य राज्य की मर्यादा और व्यवस्था को बनाए रखना। शास्त्रीय दृष्टि में नागरिक कर्तव्य केवल कर भुगतान या कानून पालन तक सीमित नहीं है; यह उस नैतिक साझेदारी का नाम है जिसमें नागरिक और राष्ट्र दोनों एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायी होते हैं। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं—**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।** तात्पर्य अपने धर्म (कर्तव्य) में मृत्यु भी कल्याणकारी है; दूसरों के धर्म का पालन भयावह है। यदि "स्वधर्म" को अपने सामाजिक और नागरिक दायित्व के रूप में समझेंतो यह शिक्षा स्पष्ट हो जाती है कि दूसरों की अपेक्षा अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह ही समाज और राष्ट्र की वास्तविक सेवा है।

आज के समय में नागरिक कर्तव्यों का दायरा बहुत विस्तृत हो गया है, यह केवल मतदान या कर चुकाने भर का मामला नहीं बल्कि सार्वजनिक संपत्ति की रक्षा, पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता, सामाजिक सद्भाव बनाए रखना और कानून का पालन करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। किंतु इस विषय का एक अनूठा और सोचने योग्य पक्ष यह है कि नागरिक कर्तव्य का मूल आधार "अनदेखे क्षणों में भी सही आचरण" है। कानून तो तभी सक्रिय होता है जब हम किसी गलती में पकड़े जाएँ परंतु कर्तव्यबोध तब भी सक्रिय रहता है जब कोई देख न रहा हो। यह वही अंतर है जो एक सामान्य नागरिक को एक संस्कृति-वाहक नागरिक में बदल देता है। जैसे कचरा सड़क पर न फेंकना, ट्रैफिक नियमों का पालन करना, पड़ोसी की कठिनाई में सहायता करना और ये सभी छोटे-छोटे कर्म किसी संवैधानिक अनुच्छेद में भले न लिखे हों परंतु राष्ट्र की आत्मा को पोषित करते हैं।

प्राचीन भारत में "ऋण" की अवधारणा भी इसी से जुड़ी थी *ऋषि ऋण, देव ऋण, पितृ ऋण और मनुष्य ऋण*—इनके निर्वाह के बिना मनुष्य को पूर्ण नहीं माना जाता था। यह ऋण-भावना बताती है कि जन्म लेने मात्र से हम स्वतंत्र नहीं बल्कि उन संबंधों और व्यवस्थाओं के प्रति उत्तरदायी हैं जिनसे हमें जीवन और पहचान मिली है।

इस दृष्टि से, नागरिक कर्तव्य केवल शासन-प्रणाली का औपचारिक हिस्सा नहीं बल्कि एक नैतिक साधना है जो एक ऐसा तप है जिसमें व्यक्ति स्वयं को सीमित स्वार्थ से उठाकर सामूहिक कल्याण के लिए समर्पित करता है और जब नागरिक इस साधना को अपनाते हैं तो राष्ट्र के विकास की राह केवल योजनाओं और नीतियों से नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के आचरण से प्रशस्त होती है।

उपसंहार

पंच परिवर्तन कोई नीतिगत घोषणापत्र नहीं बल्कि जीवन का सांस्कृतिक पुनर्निर्माण है। यह उस भारतीय दृष्टि का पुनर्स्मरण है जिसमें विकास का अर्थ केवल आर्थिक उन्नति नहीं बल्कि मानव और समाज का समग्र उत्कर्ष है। परिवार जागरूकता हमें जड़ों से जोड़ती है, पर्यावरण संरक्षण हमारी सांसों को सुरक्षित रखता है, स्वदेशी जीवन शैली आत्मनिर्भरता और

गौरव का आधार देती है, सामाजिक समरसता विविधता को शक्ति में बदलती है और नागरिक कर्तव्य इन सभी को स्थायित्व और दिशा प्रदान करता है।

हमारे ऋषियों ने कहा है—**चरैवेति चरैवेति।** अर्थात चलते रहो, निरंतर आगे बढ़ते रहो। यह केवल गति का नहीं, बल्कि सतत साधना और अनवरत जागरूकता का मंत्र है। पंच परिवर्तन की यात्रा भी ऐसी ही है, यह एक बार का प्रयास नहीं बल्कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाली साधना है जिसमें हर व्यक्ति स्वयं को, अपने परिवार को और अपने समाज को निरंतर सुधारने के प्रयास में लगा रहता है।

आज के समय में जब वैश्विक चुनौतियाँ जलवायु संकट, सांस्कृतिक एकरूपता का दबाव, सामाजिक विभाजन और नैतिक पतन हमारे सामने खड़ी हैं तब पंच परिवर्तन हमें याद दिलाता है कि समाधान बाहर से नहीं आएगा। समाधान हमारी अंतरात्मा के पुनर्जागरण से निकलेगा उस दृष्टि से जिसमें "मैं" और "हम" के बीच कोई विरोध नहीं बल्कि गहरा सामंजस्य है।

यदि परिवार अपने संस्कारों में सुदृढ़ होगा तो समाज स्वाभाविक रूप से मजबूत होगा; यदि प्रकृति सुरक्षित होगी तो अर्थव्यवस्था और जीवन दोनों सुरक्षित होंगे; यदि जीवन शैली स्वदेशी और संतुलित होगी तो सांस्कृतिक पहचान अक्षुण्ण रहेगी; यदि समाज समरस होगा तो विभाजन के बीज नहीं पनपेंगे और यदि प्रत्येक नागरिक अपने कर्तव्य का पालन करेगा तो राष्ट्र की प्रगति किसी भी बाधा से रुक नहीं सकेगी।

इस प्रकार पंच परिवर्तन केवल एक विचार नहीं बल्कि एक सांस्कृतिक संकल्प है। ऐसा संकल्प जो विकसित भारत की नींव को न केवल मज़बूत करेगा बल्कि उसे आध्यात्मिक ऊँचाई भी देगा और जब यह संकल्प घर-घर, मन-मन में जग जाएगा तब भारत न केवल भौतिक दृष्टि से समृद्ध होगा बल्कि वह अपने उस प्राचीन स्वरूप में पुनः स्थापित होगा जिसे विश्व ने कभी "वसुधैव कुटुम्बकम्" के रूप में पहचाना था।

संदर्भ सूची

1. ऋग्वेद — मंडल 10, सूक्त 191 (*संगच्छध्वं संवदध्वं* मंत्र)
2. अथर्ववेद — पृथ्वी सूक्त (*माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः*)
3. मनुस्मृति — अध्याय 4, श्लोक 226; अध्याय 8, श्लोक 15
4. महाभारत — शांतिपर्व, अध्याय 60 (पिता, माता और गुरु धर्म का आधार)
5. कौटिल्य का अर्थशास्त्र — अध्याय 2, उद्योग और व्यापार नीति संबंधी संदर्भ
6. महाउपनिषद — वसुधैव कुटुम्बकम् सूत्र
7. भगवद्गीता — अध्याय 3, श्लोक 35 (*स्वधर्मे निधनं श्रेयः*)
8. शुक्ल, रमेशचन्द्र (2015), *भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्य*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
9. त्रिपाठी, कमलाकांत (2018), *भारत का सांस्कृतिक इतिहास*, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
10. मिश्र, नरेन्द्रनाथ (2016), *भारतीय समाज और संस्कृति*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
11. जोशी, पी.एस. (2020), इंडियन कल्चरल हैरिटेज: प्रॉस्पैक्टिव एंड प्रिजर्वेशन, आईजीएनसीए, पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
12. गाडगिल, एम. एंड गुहा, आर. (1995), इकोलॉजी एंड इक्विटी: दि यूज़ एंड अब्यूज ऑफ नेचर इन कनटेंपोरेरी इंडिया, पेनगुंइन बुक्स, नई दिल्ली
13. गुप्ता, एस. के. (2019), सस्टेनेबल डेवलेपमेंट एंड इंडियन इथोस, कॉनसेप्ट पब्लिशिंग, नई दिल्ली

*****

चराइदेव मोइदाम: असम के पिरामिड और हमारी साझा धरोहर

अमृता चौरसिया
संसद टीवी एंकर

सुबह का दृश्य

सुबह की हल्की धुंध, हरियाली से ढकी पहाड़ियाँ और दूर से आती पक्षियों की चहचहाहट... असम की वादियों का यह दृश्य किसी कविता की तरह लगता है। इन्हीं वादियों में बसा है चराइदेव, जहाँ मिट्टी का हर कण इतिहास सुनाता है। यहाँ के छोटे-छोटे टीले भले साधारण दिखाई दें, लेकिन वास्तव में ये सदियों पुराने शाही समाधि-स्थल हैं। इन्हें प्यार से कहा जाता है: "असम के पिरामिड।"यह सिर्फ़ मिट्टी और पत्थरों का ढेर नहीं, बल्कि एक जीवित गाथा है जो हमें बताती है कि सभ्यताएँ केवल किताबों तक सीमित नहीं होतीं, वे धरती और स्मृतियों में भी सांस लेती रहती हैं।

ताई-अहोमों की कथा

13वीं शताब्दी का समय था। चीन के युन्नान प्रांत से एक साहसी राजा छोलुंग सुकफा अपने अनुयायियों के साथ एक लंबी यात्रा पर निकले। हजारों किलोमीटर का सफर तय कर वे असम की ब्रह्मपुत्र घाटी पहुँचे। यहाँ आकर उन्होंने केवल एक राज्य की नींव नहीं रखी, बल्कि इस भूमि को अपना घर बना लिया। यहीं से शुरू हुआ अहोम साम्राज्य, जिसने लगभग 600 वर्षों तक असम और उत्तर-पूर्व भारत के बड़े हिस्से पर शासन किया। सुकफा ने चराइदेव को अपनी पहली राजधानी बनाया। आगे चलकर यही स्थल अहोम शासकों का शाही विश्रामस्थल बना।

"मोइदाम" शब्द का अर्थ है: "मृतकों का घर।"

अहोम परंपरा के अनुसार मृत्यु अंत नहीं, बल्कि एक नई यात्रा है। इसलिए राजाओं और रानियों को दफ़नाते समय उनके साथ वे सारी वस्तुएँ भी रखी जाती थीं, जिनका वे जीवन में प्रयोग करते थे। इनमें सोने-चाँदी के आभूषण, हाथीदाँत और लकड़ी की कलाकृतियाँ, चीनी मिट्टी के बर्तन, शाही प्रतीक चिन्ह, हथियार और विशेष वस्त्र शामिल होते थे। ये वस्तुएँ आज भी इस बात का प्रमाण हैं कि जीवित और मृत के बीच सम्मान और श्रद्धा का रिश्ता बना रहता था।

स्थापत्य की अद्भुतता: असम के पिरामिड

अब तक चराइदेव में 386 मोइदाम खोजे जा चुके हैं, जिनमें से 90 शाही समाधियाँ सबसे भव्य और सुव्यवस्थित हैं। इनका ढांचा देखने पर मिस्र के पिरामिडों की याद आती है। गुंबदनुमा कक्ष, धनुषाकार प्रवेश मार्ग और केंद्रीय ऊँचा मंच—जहाँ शाही शव रखा जाता था, यह सब उस समय की उन्नत स्थापत्य कला और आध्यात्मिक दृष्टि का परिचायक है। चराइदेव आज भी केवल इतिहास का हिस्सा नहीं है, बल्कि एक जीवित परंपरा है।

अब तक चराइदेव में 386 मोइदाम खोजे जा चुके हैं, जिनमें से 90 शाही समाधियाँ सबसे भव्य और सुव्यवस्थित हैं। इनका ढांचा देखने पर मिस्र के पिरामिडों की याद आती है।

हर साल यहाँ ताई-अहोम समुदाय मे-दम-मे-फी और तर्पण जैसे अनुष्ठान करता है। इन अवसरों पर लोग अपने पूर्वजों को स्मरण करते हैं और मानते हैं कि वे आज भी उनकी रक्षा कर रहे हैं। स्थानीय लोगों के लिए चराइदेव सिर्फ़ अतीत नहीं, बल्कि एक जीवित विश्वास है।

संघर्ष और संरक्षण

वर्ष 1848 में ब्रिटिश अधिकारी सर्जेंट क्लेटन ने पहली बार इन समाधियों की खुदाई की। समय के साथ कुछ मोइदाम लूटपाट और उपेक्षा का शिकार हुए। लेकिन आज भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण और असम सरकार इनका संरक्षण और संवर्धन कर रहे हैं। जुलाई 2024 में, भारत के चराइदेव मोइदाम्स को यूनेस्को के 43वें विश्व धरोहर समिति सत्र में विश्व धरोहर स्थल का दर्जा मिला। यह क्षण केवल असम का नहीं, बल्कि पूरे भारत का गौरव बन गया। अब यह स्थल वैश्विक धरोहर के रूप में संरक्षित है, जो भारत की प्राचीनता और विविधता की पहचान को और मजबूत करता है। यदि आप यहाँ आते हैं तो यह यात्रा केवल ऐतिहासिक नहीं, बल्कि एक समय यात्रा होगी।

सुबह मोइदाम्स पर पड़ती धूप ऐसा एहसास दिलाती है मानो समय थम गया हो। पर्यटन की दृष्टि से घूमने का सबसे अच्छा समय है अक्टूबर से मार्च महीने का और निकटतम एयरपोर्ट: डिब्रूगढ़ है जिसकी दूरी लगभग 86 किलोमिटर है। यहाँ रेलगाड़ी से भी पहुँचा जा सकता है। निकटतम रेलवे स्टेशन: सिमालुगुरी (13 किमी) है। ठहरने के लिए शिवसागर और नजीरा में होटल, होमस्टे और गेस्ट हाउस उपलब्ध हैं। असमिया थाली, बाँस शूट करी और फिश टेंगा यहाँ के स्वाद का अनोखा अनुभव देते हैं।

चराइदेव मोइदाम्स हमें यह एहसास कराते हैं कि सभ्यताएँ केवल स्मारकों या किताबों में नहीं, बल्कि हमारी मिट्टी और सामूहिक स्मरण में जीवित रहती हैं। यह स्थल हमें सिखाता है कि अतीत हमारी पहचान है और विरासत हमारा कर्तव्य। जब हम चराइदेव को देखते हैं, तो हम केवल असम का इतिहास नहीं, बल्कि भारत की आत्मा को देखते हैं। चराइदेव मोइदाम्स: जहाँ मिट्टी में इतिहास धड़कता है और विरासत सांस लेती है।

*****

भारतीय भाषाओं के मध्य सांस्कृतिक एकता

आरती
पी.एच.डी शोधार्थी,
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारत विविधताओं का देश है। यहाँ की विविधता सबसे अधिक भाषाओं में दिखाई देती है। संविधान के अनुसार भारत में 22 आधिकारिक भाषाएं हैं और यदि बोलियों को भी गिना जाए तो यह संख्या सैकड़ों में पहुँच जाती है। हिंदी, बंगाली, तमिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती, मलयालम, कन्नड़, उर्दू, ओड़िया, पंजाबी आदि जैसी भाषाएं देश के अलग-अलग हिस्सों में बोली जाती हैं। इसके बावजूद, भारत में एक गहरी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है। अर्थात् भाषा किसी भी संस्कृति का मूल आधार होती है। भारत में विभिन्न भाषाओं के बावजूद लोग एक-दूसरे की संस्कृति, रीति-रिवाज और परंपराओं का सम्मान करते हैं। हर भाषा क्षेत्र की अपनी खास पहचान है, फिर भी सभी भारतीय एक राष्ट्र की भावना से जुड़े हैं। त्योहारों, शादी-ब्याह, लोककलाओं और संगीत के माध्यम से विभिन्न भाषाएं एक सांस्कृतिक पुल बनाती हैं। अतः भारत एक बहुभाषी देश है। भारत में भाषाई और सांस्कृतिक विविधता के बावजूद, भारतीय भाषाएँ सांस्कृतिक एकता को बढ़ावा देती हैं, जो भारत की समृद्ध विरासत और साझा मूल्यों को दर्शाती हैं।

संस्कृत की 'भाष' धातु से 'भाषा' शब्द बना है जिसका अर्थ है- वाणी को व्यक्त करना। भाषा विचारों के विनिमय का सशक्त माध्यम होती है। काल, देश भौगोलिक स्थिति, पर्यावरण एवं जैव विविधता से इसका गहरा नाता-रिश्ता होता है। यह संस्कृति को समृद्ध बनाती है। इसलिए किसी भी समाज में भाषा का विशेष महत्व होता है क्योंकि यदि भाषा ना हो तो सामाजिक व्यवहार और क्रियाकलाप संभव नहीं हो सकता है। उदाहरणार्थ मौन का सन्नाटा पसर जाएतो चारों ओर अव्यक्त का माहौल निर्मित हो जाएगा। अर्थात्भाषा ही व्यवहार को गति देती है, इसलिए इसे जगत के व्यवहार का मूल कहा गया है। भाषा, लिपि और संस्कृति का गहरा संबंध होता है। अर्थात् किसी भी देश की संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग भाषा होती है। भाषा संस्कृति की संवाहिका होती है। भाषा मात्र ध्वनियों, अक्षर और शब्द भंडार की व्यवस्था नहीं है अपितु यह अपने साथ अनेक विचार भी लाती है और दुनिया को देखने का एक दृष्टिकोण प्रदान करती है। भारतीय चिंतन धारा में संस्कृति की संकल्पना बेहद व्यापक है। हमारे यहां संस्कृति को पूर्णता का पर्याय माना गया है। संस्कृति केवल कल्चर नहीं है, बल्कि यह कल्चर से कहीं ज्यादा व्यापक और तर्कसंगत है। अतः संस्कृति यदि चिंतन का मूर्त रूप है तो भाषा उसका माध्यम है।

इस प्रकार भारत अपनी सांस्कृतिक विविधता और भाषाई समृद्धि के लिए विश्वभर में प्रसिद्ध है। भारतीय भाषाएँ न केवल संवाद का साधन नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय संस्कृति, परंपरा और दर्शन को संरक्षित और प्रसारित करने का महत्वपूर्ण माध्यम भी हैं। देश की 22 मान्यता प्राप्त भाषाएँ और लगभग 1600 से अधिक बोलियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि भारत विश्व स्तर पर सबसे अधिक भाषाई विविधताओं में से एक है। भारतीय संस्कृति को बनाए रखने के लिए भाषाएँ महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे ज्ञान और पहचान का संचार करती हैं। इसीलिए भारत में भाषा केवल संवाद का उपकरण नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक धरोहर है।

प्रत्येक भाषा एक अनूठी संस्कृति, रीति-रिवाजों और परंपराओं का प्रतिनिधित्व करती है, जो भारत की विरासत के बारे में जानकारी प्रदान करती

है। जैसे प्राचीन भाषाओं ने भारत की सांस्कृतिक विरासत पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालाहै, जैसाकि संस्कृत ने साहित्य, धर्म और दर्शन को आकार दिया है। तमिल, तेलुगु और कन्नड़ जैसी शास्त्रीय भाषाएँ क्षेत्रीय विरासत और परंपरओं को संरक्षित करती हैं। ये भाषाएँ विशिष्ट पहचान कायम रखती हैं और ऐतिहासिक जड़ों का सम्मान करती हैं, जबकि तमिल, बंगाली और मराठी भारत के विविध सांस्कृतिक ताने-बाने को प्रतिबिंबित करने वाली साहित्यिक कृतियों के रूप में अत्यधिक महत्व रखती हैं। इसलिए भारत की सांस्कृतिक विरासत की रक्षा करने और भावी पीढ़ियों को अपनी पैतृक जड़ों से जोड़ने के लिए इन भाषाओं को संरक्षित करना महत्वपूर्ण है। क्योंकि स्वदेशी भाषाएँ विविध प्रथाओं और परंपराओं को संरक्षित करती हैं, जबकि आदिवासी भाषाएँ पहचान और गौरव को बढ़ावा देती हैं। भारतीय भाषाएँ रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों और लोककथाओं को भी संरक्षित करती हैं, जटिल परंपराओं और स्थानीय इतिहास को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाती हैं। इसलिए, भारत की सांस्कृतिक विरासत के निरंतर संरक्षण को सुनिश्चित करने के लिए इन भाषाओं की सुरक्षा और प्रचार-प्रसार आवश्यक है। साहित्य और कला में भाषाओं की भूमिका भारत में सांस्कृतिक विरासत को व्यक्त करने, संरक्षित करने और प्रसारित करने के लिए भाषाएँ महत्वपूर्ण हैं। विविध भाषाई परिदृश्य ने साहित्य और कलात्मक अभिव्यक्तियों की समृद्ध टेपेस्ट्री को जन्म दिया है, जिनमें से प्रत्येक की अपनी अनूठी सांस्कृतिक बारीकियां और परंपराएं हैं। ये भाषाएँ देश की सांस्कृतिक विरासत की नींव बनाती हैं, जो बदलती दुनिया में इसकी निरंतरता और प्रासंगिकता सुनिश्चित करती हैं। जिसमें संस्कृत महाकाव्य, तमिल साहित्य की तिरुक्कुरल और कन्नड़ की पम्पा जैसी साहित्यिक उत्कृष्ट कृतियाँ विभिन्न क्षेत्रों की परंपराओं, रीति-रिवाजों और मूल्यों में एक खिड़की प्रदान करती हैं।

भाषा, संस्कृति और समाज आपस में इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए है कि बिना एक को समझे दूसरे को समझना अकल्पनीय है। भाषा और संस्कृति को समझे बिना किसी समाज को नहीं समझा जा सकता। भाषा संस्कृति को रचती भी है और स्वंय संस्कृति द्वारा रची भी जाती है। भाषा राष्ट्र और राष्ट्र के निवासियों को आत्मीयता से जोड़ती है। स्वाधीनता आंदोलन में अहिंदी भाषायी क्षेत्र के लोगों ने राष्ट्रीय एकता को बनाने में हिन्दी भाषा अपनाकर सहयोग दिया। क्षेत्रीय बोलियों में लोकगीतों, लोक गाथाओं के माध्यम से स्वतन्त्रता की अलख जगायी गयी। वर्तमान में 1857 के आंदोलन के वीर योद्धाओं से संबन्धित लोक गीत गए जाते हैं। भोजपुरी क्षेत्र में गाया जाने वाला एक प्रसिद्धलोक गीत-

जब बढ़ल कुंवर दल लक्षमनपुर से आगे
पथ गाँव गाँव तरनाई जागल अनुरागे।

अतः लोक संस्कृति भारतीय समाज में पुनर्जागरण के प्रश्न समझाने में सहायता करती है। "संस्कृति किसी एक समाज में पायी जाने वाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है, जो सामाजिक प्रथाओं, व्यक्तियों की चितवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों, आचरण के साथ साथ, उसके द्वारा भौतिक पदार्थों को विशिष्ट स्वरूप दिए जाने में अभिव्यक्त होती है।" भारतीय संस्कृति हमारे चिंतन मनन ध्यान आदि की साकार अभिव्यक्ति है। चक्रवर्ती राजगोपालचारी के अनुसार 'भारतीय चिंतन धारा का पुंज इस दिशा में हमारे महान ऋषियों और विद्वानों की अद्भुत प्रज्ञा तथा कल्पनाशीलता के सर्वोच्च प्रयासों का परिणाम है, और यही कारण है कि भारत समस्त सभ्य विश्व में प्रसिद्ध है।' संस्कृति किसी भी राष्ट्र या देश की वह उपलब्धि है जो उसने सदियों से अर्जित की होती है। संस्कृति को राष्ट्रीयता या देशीयता से अलग नहीं किया जा सकता। सांस्कृतिक धरोहर का अभिप्राय संस्कृति से ही होता है। भारतीय संस्कृति के दर्शनइसके इतिहास, भूगोल, धर्म दर्शन, संतों की

वाणी साहित्य, भाषाओं, लोक पर्वों, संगीत, ललित कलाओं तथा अन्य कला कृतियों में होते हैं अर्थात् इन सबका समन्वित रूप ही संस्कृति है। केवल यही माध्यम है, जिसके द्वारा राष्ट्रीय एकता को व्यापक और स्थायी बनाया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति में सत्यम् शिवम सुंदरम, विश्व बंधुत्व, वसुधैव कुटुम्बकम् सनातन धर्म का मूल संस्कार एवं विविधता में एकता आदि का सामवेश है। भारतीय संस्कृति में मानवता, शाश्वत मूल्य, आस्थाएँ, नैतिकता, सौंदर्य चतेना, पौराणिकता, साहित्य, कला, संगीत और मानवीय तत्व है जो हमे, वेदों, धर्म ग्रन्थों, ऋषी मुनियों, पूर्वजों के चिंतन मनन से पारंपरिक ज्ञान के रूप में प्राप्त है। इन सभी को समझने में भाषा और उस भाषा को बोलने वाला समाज महत्त्वपूर्ण हैं। भारत की राष्ट्रीयता की भावना का विकास देश के सांस्कृतिक जागरण के साथ हुआ जिसकी परिणति लोक मंगल तथा वैश्विक चेतना में हुई।

पंत जी का यह विश्लेषण इस संदर्भ में अत्यन्त प्रासंगिक है-'भारतीय राष्ट्रवाद की भावना देश के सांस्कृतिक जागरण की पृष्ठभूमि में एक विशेष आदर्शवादी रूप धारण कर विकसित एवं प्रस्फुटित हुई है। वास्तव में श्रीरामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती, केशव बलिराम हेडगेवार आदि अनेक महान जीवन द्रष्टओं के कारण जो एक सांस्कृतिक नवोत्थान की बृहद् प्रेरणा देश के मानस को मिली, जिससे कि अपने अतीत के गौरव के प्रति लोक मन उद्‌बुद्ध हो सका उसके प्रकाश में हमारी राष्ट्रीय भावना ने एक अत्यंत व्यापक, सांस्कृतिक तथा मानवतावादी रूप ग्रहण कर लिया। तो वहीं जयशंकर प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' नाटक में स्वर्णिम अतीत को वर्तमान के लिए प्रेरणाप्रद बताया है। प्रसाद की निम्नांकित पंक्तियां गौरवपूर्ण अतीत की याद दिलाती हैं और वर्तमान में प्रेरणा भी देती हैं-

वही है रक्त वही है देह वही साहस वैसा ही जान।
वही है शांति वही है शक्ति वही हम दिव्य आर्य संतान।।
जियें तो सदा उसी के लिए यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष।।

आचार्य शुक्ल ने इसे ही देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव की संज्ञा दी है और इस अनुभव को देशप्रेम से जोड़ा है। उन्होंने देशप्रेम को प्रेम का ही एक रूप माना है-"देशप्रेम है क्या? प्रेम ही तो है। इस प्रेम का आलंबन क्या है? सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, नाले, वन, पर्वत, सहित सारी भूमि।" प्रेम किस प्रकार का है? यह प्रेम साहचर्यगत प्रेम है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें बराबर आंखों से देखते हैं, जिनकी बातें बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ रहता है, सारांश यह है कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। देशप्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। अपनी संस्कृति के प्रति गौरव बोध वस्तुतः राष्ट्रीय अस्मिता का हिस्सा है और राष्ट्रीय अस्मिता राष्ट्रबोध का अभिन्न हिस्सा है **आचार्य हजारी प्रसाद दविवेदी** ने भी अपने निबंधों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के उदात्त स्वरूप को प्रत्यक्ष कर नई पीढ़ी को उसके महत्व से परिचित कराया है। **अज्ञेय** का यह कथन युक्तियुक्त है कि संस्कृतियों का सम्बंध अपनी देशभूमि से होता है।

भारतीय संस्कृति मूलतः धार्मिक व आध्यात्मिक संस्कृति रही है। भारतीय संस्कृति ने वर्षों से अनेक बाधाओं और संकटों के दौर से गुजरतेहुए अपनी अस्मिता को बचाए रखा है। यह बचाव राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। जिसको भी भारतीय राष्ट्रीय एकता को समझना, जानना हो वह भारत की भाषायी सम्प्रेषण और संस्कृति के इतिहास को देखे। भारतीय

संस्कृति ने विश्व संस्कृति का मार्गदर्शन किया है। भारतीय संस्कृति को साहित्य, गांवों तथा ललित कलाओं में देखा जा सकता है। कला के रूप में संस्कृति सिर्फ दृश्य-वस्तुओं तक सीमित नहीं है। इसमें प्रत्येक भारतीय की मनःस्थिति, भावदशा, इतिहास, संघर्ष, राष्ट्रीय आंदोलन की परंपरा, भाषा और सांस्कृतिक परम्पराओं में परिवर्तन का इतिहास है। भारतीय संस्कृति स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात करती है। अपने में सब और सब में आप की भावना, सुख-दुख, प्रिय-अप्रिय को हृदय से अपराजित होकर भी ग्रहण करती है हार नहीं मानती। महाभारत के शांति पर्व में भीष्म पितामह पांडवों को यही ज्ञान देते हैं।

सुख वा यदि वा दुख प्रिय वा यदि वा प्रेम।
प्राप्त प्राप्तुमपासीत हृदये ना पराजितः। (शान्ति पर्व)

यह है भारतीय सांस्कृतिक परंपरा, और उसकी ज्ञान संपदा जो आज भी भारतीय लोक समाज में व्याप्त है। अनेक साहित्यकारों ने इस संपदा को भाषा के विकास के साथ आगे बढ़ाया है। साहित्य और समाज की यहीं चिंतनशीलता राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए हुए है। युगों से भाषा में परिवर्तन होता आया है। अनेक शासन व्यवस्था को भारतीय संस्कृति ने देखा व भोगा हैं। इन हजारों वर्षों में अनेक विदेशी सभ्यता या तो नष्ट हो गयी या भारतीय संस्कृति में विलीन हो गयी है। इस अखंडता को बनाने में महत्वपूर्ण है राम कथा अर्थात् हरि अनंत हरि कथा अनंता। भारतीय लोक समाज में रामकथा हजारों वर्षों से व्याप्त है। रामकथा को गाने व समझने वाले भारतीय समाज अलग-अलग हैं। उसकी अभिव्यक्तिक भाषा अलग है। रामकथा और रामायण भारतीय उपमहाद्वीप का एक महत्त्वपूर्ण आख्यान है। यह देश की भावनात्मक तथा सांस्कृतिक एकता का वह आधारभूत सूत्र है, जिसने भारतीय लोकमानस को सबसे अधिक प्रभावित किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक परिषद द्वारा वर्ष 2001 में रामकथा को विश्व मानव समुदाय का अमूर्त बोधगम्य संपदा घोषित किया है। रामकथा का विस्तार भारत ही नहीं, बल्कि दक्षिण पूर्व एशिया और पूर्व एशियाई देशों में हुआ है। हिन्दी भाषायी समाज के अतिरिक्त पूर्वोत्तर भारत के कला रूपों व मौखिक परंपरा में कार्बी, खामति, मिजो आदि जनजातियों और माधव कंदली, श्रीमंत शंकरदेव, श्रीमंत माधव देव आदि के काव्य रुपों में रामकथा प्रचलित हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत के अनेक कला रूपों में रामकथा मिलती हैं। इस प्रकार रामकथा भारतीय संस्कृति, चिंतन, आत्मगौरव, और राष्ट्रीय एकता को मजबूत आधार प्रदान करती है।

अब यह देखने का भी प्रयास करना चाहिए कि इस विविधता के भीतर हमारी एकता कहाँ छिपी हुई है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि यद्यपि हम अनेक भाषाएँ बोलते हैं जिनमें बाईस भाषाएँ तो ऐसी हैं, जिन्हें भारत सरकार ने स्वीकृति दे रखी है किंतु भिन्न-भिन्न भाषाओं के भीतर बहने वाली हमारी भावधारा एक है, तथा हम प्रायः एक ही तरह के विचारों और कथा-वस्तुओं को लेकर अपनी-अपनी बोली में साहित्यिक रचना करते हैं। रामायण और महाभारत को लेकर भारत की प्रायः सभी भाषाओं के बीच अद्‌भुत एकता मिलेगी, इसके सिवासंस्कृत और प्राकृत भाषा में भारत का जो साहित्य लिखा गया था, उसका प्रभाव भी सभी भाषाओं की जड़ में काम कर रहा है। विचारों की एकता जाति की सबसे बड़ी एकता होती है। अतएव भारतीय जनता की एकता के असली आधार भारतीय दर्शनऔर साहित्य हैं, जो अनेक भाषाओं में लिखे जाने पर भी, अंत में जाकर एक ही साबित होते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि फारसी लिपि को छोड़ दें तो भारत की अन्य सभी लिपियों की वर्णमाला एक ही है, यद्यपि वह अलग-अलग लिपियों में लिखी जाती हैं। जैसे हम हिंदी में क, ख, ग आदि अक्षर पढ़ते हैं, वैसे ही ये अक्षर भारत की

अन्य लिपियों में भी पढ़े जाते हैं, यद्यपि उनके लिखने का ढंग और है।

हमारी एकता का दूसरा प्रमाण यह है कि उत्तर या दक्षिण चाहे जहाँ भी जाएँ, आपको जगह-जगह पर एक ही संस्कृति के मन्दिर दिखाई देंगे, एक तरह के आदमियों से मुलाकात होगी, जो चंदन लगाते हैं, पूजा करते हैं, तीर्थ-व्रत में विश्वास करते हैं और जो नई रोशनी को अपना लेने के कारण इन बातों को कुछ शंका की दृष्टि से देखते हैं। उत्तर भारत के लोगों का जो स्वभाव है, जीवन को देखने की जो उनकी दृष्टि है, वही स्वभाव और वहीं दृष्टि दक्षिण वालों की भी है। भाषा की दीवार के टूटते ही, उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय के बीच कोई भी भेद नहीं रह जाता और वे आपस में एक दूसरे के बहुत करीब आ जाते हैं। असल में, भाषा की दीवार के आर-पार बैठे हुए भी वे एक ही हैं। वे धर्म के अनुयायी और संस्कृति की एक विरासत के भागीदार हैं। उन्होंने देश की आजादी के लिए एक होकर लड़ाई लड़ी और आज उसकी पार्लियामेंट और शासन-विधान भी एक हैं।

भारत की राष्ट्रीय एकता के सामने कुछ चुनौतियाँ भी है। भाषा को सांप्रदायिकता के संदर्भ में लेना, संस्कृति को शिक्षा से न जोड़ना, वैदिक साहित्य परम्परा को अनदेखा करना, पाश्चात्य शिक्षा पद्धति का अनुकरण करना, और पारम्परिक ज्ञान परम्परा को हेय दृष्टि से देखना आदि है। आज़ादी के बाद भारत में अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, परिवर्तन हुए। वैश्वीकरण के दौर तक आते-आते हम में राष्ट्रीय भावना का क्षरण होने लगा, परिणाम यह हुआ कि भारतीय अपनी सांस्कृतिक विरासत से कटने लगे। संस्कृति या कलाओं का बचाव सिर्फ सांस्कृतिक कार्यक्रमों के द्वारा स्टेज तक सीमित हो गया। कलाएं दीवार की शोभा बढ़ाने तक सीमित रह गयी है। पारंपरिक देशज शब्द लुप्त होने लगे है। शब्दों के लुप्त होनेसे मर जाने से भाषा में परिवर्तन हुआ। हमारे दैनिक जीवन में नई शब्दावली आने से समाज की परम्पराओं, भावनाओं, संवेदनाओं का हास के साथ संस्कृति में भी परिवर्तन हुआ हैं। परन्तु राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में मातृभाषा में शिक्षा की बात करती है और भारत की गौरवशाली संस्कृति को शिक्षा से सीधा-सीधा जोड़ती है, भारत सरकार का यह प्रयास सराहनीय है, जिसके दूरगामी परिणाम देखने को मिलेंगे। जो भारत को सिर्फ समृद्ध ही नहीं अपितु आत्मनिर्भर बनाएगा। समाज को उसकी मातृभाषा में रोजगार के अवसर प्रदान करेगा। इसलिए वर्तमान समय में राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने के लिए संस्कृति को शैक्षणिक प्रणाली से जोड़ना होगा। जिससे समाज में राष्ट्रीय चेतना जागृत हो सके। शिक्षा प्रणाली के द्वारा सांस्कृतिक विरासत की ज्ञान-विज्ञान की परंपरा का विश्लेषण, पुर्नमूल्यांकन होना चाहिए। भारतीय संस्कृति के विकास और परम्पराओं को आधुनिक जीवन के संदर्भ में देखना चाहिए। हमारा आधुनिक जीवन, हमारा समाज, हमारी सांस्कृतिक धरोहर राष्ट्रीय चेतना द्वारा निर्देशित होनी चाहिए। जिससे अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय एकता बनी रहे और भारतीय भाषा और संस्कृति के द्वारा विश्व का मार्गदर्शन करें।

सन्दर्भ सूची-:

1. संस्कृति भाषा और राष्ट्र, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या 11, वर्ष 2008
2. हिन्दी भाषा और समाज, प्रो. गिरीश्वर मिश्र, पृष्ठ-5, 2017, शिल्पायन
3. हुसैन, एस. आबिद, भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, 1987, भूमिका पृष्ठ-3
4. भारतीय सांस्कृतिक विरासत, सुदर्शन कुमार कपूर, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, 2009 पृष्ठ 2
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ-294
6. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ-6.

****

भारतीय भाषाएं और वैश्वीकरण

डॉ. ओम प्रकाश
सहायक आचार्य
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली

भारत अनेकता में एकता और विविधताओं का देश होने के साथ-साथ बहु-भाषी देश भी है। भारत में भाषा की विविधता के संबंध में यदि यह कहा जाए कि यहां धर्म, जाति, रीति-रिवाज आदि से भी अधिक विविधताएं भाषा में पाई जाती है, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। भारत में भाषा की इसी विविधता के कारण यह कहावत प्रचलित है – '**कोस-कोस पर पानी बदले, चार कोस पर वाणी**' यानी एक ऐसा देश जहां हर एक कोस पर पानी बदलता है, तो चार कोस पर वाणी।

बाजारवाद के विस्तार के उद्देश्य से अस्तित्व में आई वैश्वीकरण की अवधारणा ने हमारे जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है। वैश्वीकरण की अवधारणा को सरल रूप में समझने के लिए हम कह सकते हैं कि वैश्वीकरण अपने उत्पादों को वृहद् रूप में बेचने और उनका व्यापक उपयोग सुनिश्चित करने के लिए वैश्विक कंपनियों द्वारा अपने उत्पादों को विश्व स्तर पर उपलब्ध कराने की एक प्रक्रिया है। दूसरे शब्दों में कहें तो किसी भी वस्तु का वैश्वीकरण अर्थात् विश्व स्तर पर उपलब्धता ही वैश्वीकरण की मूल अवधारणा है, जो निरंतर फलीभूत हो रही है और निश्चित तौर पर विश्व स्तर पर मानव जीवन को सरल और सुविधाजनक बना रही है।

मानव जीवन परिवर्तनशील है। भाषा हमारे जीवन का वह अभिन्न अंग है, जो हमारे जीवन में किसी भी स्तर पर किसी भी प्रकार के परिवर्तन के साथ स्वयं भी परिवर्तित हो जाती है। उदाहरणस्वरूप हमारे स्थान परिवर्तन के साथ हमारी भाषा परिवर्तित होती है। हमारे वार्तालाप में व्यक्ति के परिवर्तन होते ही हमारी भाषा परिवर्तित हो जाती है। यहां तक कि समय के परिवर्तन के साथ भी हमारी भाषा परिवर्तित होती है। जैसा कि हमने ऊपर भी उल्लेख किया कि वैश्वीकरण ने विश्व स्तर पर मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को परिवर्तित किया, ऐसे में हमारी भाषा पर उसका प्रभाव कैसे न पड़ता। वैश्वीकरण जिसने समस्त विश्व में परिवर्तन लाने का पुनीत कार्य किया, उसने निश्चित तौर पर हमारी भारतीय भाषाओं पर भी अपना प्रभाव डाला है।

मानव जीवन में वैश्वीकरण के प्रभाव से संबंधित कई प्रकार के रोचक तथ्य हमारे समक्ष आए, भाषा पर इनके सकारात्मक प्रभाव से संबंधित जानकारी भी हमने प्राप्त की, लेकिन विचार करने योग्य बात यह है कि क्या वैश्वीकरण ने हमारे जीवन पर विशेषकर हमारी भारतीय भाषाओं पर केवल सकारात्मक प्रभाव ही डाला है?

भारत में भाषाओं की एक समृद्ध संपदा है और इस संपदा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहां किसी भी भाषा का किसी दूसरी भाषा के साथ कोई बैर नहीं, कोई विरोध नहीं है। सभी भारतीय भाषाएं एक दूसरे के साथ अपनी विरासत को विस्तृत कर रही है। लेकिन इस तथ्य से हम भली-भांति परिचित हैं कि कोई भी भाषा या बोली तब तक ही अस्तित्व में रह सकती है, जब तक उसका उपयोग किया जाता रहेगा। एक अध्ययन के अनुसार वर्ष 1961 में भारत में भाषाओं की कुल संख्या आधिकारिक रूप से 1652 थीं, जो वर्ष 1971 में घटकर मात्र 808 हो गई। भारतीय लोकभाषा सर्वेक्षण 2013 के आँकड़ों पर यदि हम ध्यान दें, तो ज्ञात होगा कि पिछले 50 वर्षों में 220 भाषाएँ लुप्त हो गई हैं और

197 भाषाएँ लुप्त होने की कगार पर हैं। व्यक्तिवाद, उपभोक्तावाद, सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों में बदलाव, पारंपरिक बसावट में कमी, बढ़ते पूँजीवाद तथा रोज़गार में भारी कमी ने भारतीय भाषाओं को पतन की ओर ढकेल दिया है। ये आंकड़े निश्चित तौर पर हम भारतीयों के लिए चिंताजनक हैं, क्योंकि इन आंकड़ों की गति यदि इसी प्रकार बढ़ती रही, तो हमारी भाषाओं की यह समृद्ध संपदा शीघ्र ही समाप्ति की ओर अग्रसर हो जाएगी। भारतीय भाषाओं पर इस संकट का कारण वैश्वीकरण भी हो सकता है। लेकिन इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि सभी भारतीय भाषाएं गर्त की ओर जा रही हैं, यह वैश्वीकरण का ही प्रभाव है कि वर्तमान में हिन्दी एक वैश्विक भाषा बनने की ओर अग्रसर है और निरंतर प्रगति पथ पर आसीन है। लेकिन हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि वैश्वीकरण के कारण ही अब हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली भाषा नहीं रही बल्कि अब इसे देवनागरी की तुलना में रोमन लिपि में अधिक लिखा जा रहा है और अब इसका स्वरूप हिन्दी से बदलकर हिंग्लिश हो चुका है।

वर्तमान समय में भारतीय भाषाओं की दशा एवं दिशा

यूनेस्को द्वारा प्रकाशित 'एटलस ऑफ़ वर्ल्ड लेंग्वेजेज इन डेंजर' के अनुसार भारत में 780 से अधिक भारतीय भाषाओं में से 197 भाषाएं इंडेंजर्ड (लुप्तप्राय) हैं। यूनेस्को के अनुसार चिह्नित की गई लुप्तप्राय भाषाओं में से लगभग 100 भाषाएं वल्नरेवल हैं। इसके बाद डेफिनिटली इंडेंजर्ड 63, सीवियरली इंडेंजर्ड 6, क्रिटिकली इंडेंजर्ड 42 और ऑलरेडी इक्स्टिक्ट 5 भी हैं। यूनेस्को के अनुसार,10,000 से कम लोगों द्वारा बोली जाने वाली किसी भी भाषा को "पोटेंसियली इंडेंजर्ड" माना जाता है। यूनेस्को की इसी रिपोर्ट के अनुसार भारत के लगभग प्रत्येक राज्य विशेषकर उत्तर-पूर्वी एवं मध्य पूर्वी भारत, जहां मुख्य रूप से आदिवासियों का प्रभुत्व है, वहां बोली जाने वाली भाषाएं लुप्तप्राय है और इन भाषाओं के लुप्त होने का कारण इनकी भाषाई विशेषता अथवा जटिलता नहीं है, न ही कठिन व्याकरण ही इसके लिए जिम्मेदार है, बल्कि ये भाषाएं इसलिए लुप्तप्राय हैं क्योंकि ये फैशनेबल नहीं है और राज्यों द्वारा इन भाषाओं को सीमित समर्थन प्रदान किया जाता है तथा इन्हें स्कूलों में पढ़ाया नहीं जाता। स्पष्ट है कि कोई भाषा अपनी विशेषताओं और जटिल व्याकरण के कारण नहीं, बल्कि फैशनेबल अर्थात् प्रचलन में न होने के कारण, अधिक उपयोग में न होने के कारण और शिक्षा का हिस्सा अथवा माध्यम न होने के कारण तथा उचित समर्थन के अभाव में लुप्त होती है। जहां तक हमारे देश में भाषा को आधिकारिक दर्जा प्रदान की करने की बात है, तो हमारे देश के संविधान की आठवीं अनुसूची में जिन भाषाओं को शामिल किया जाता है, उन्हें ही देश में आधिकारिक भाषा का दर्जा प्राप्त होता है। वर्तमान में हमारे संविधान में 22 भारतीय भाषाओं अर्थात् असमिया, बांग्ला, गुजराती, हिन्दी, कन्नड, कश्मीरी, कोंकणी, मलयालम, मणिपुरी, मराठी, नेपाली, उडिया, पंजाबी, संस्कृत, सिंधी, तमिल, तेलुगू, उर्दू, बोडो, संथाली, मैथिली और डोगरी को मान्यता प्राप्त है। तो क्या इसका अर्थ यह है कि इन 22 भाषाओं के अलावा अन्य सभी भाषाओं एवं बोलियों का अस्तित्व खतरे में है ?

14 सितंबर, 1949 को हिन्दी को देश की राजभाषा का दर्जा प्रदान किया गया और यहां से हिन्दी के विकास, प्रचार-प्रसार और प्रगति की यात्रा शुरू हुई। परिणामस्वरूप हिन्दी वर्तमान में वैश्विक भाषा बनने की दिशा में अग्रसर है। किन्तु अन्य भाषाओं का क्या? आठवीं अनुसूची में वर्णित भाषाएं तो आधिकारिक भाषा हैं और उन्हें किसी न किसी राज्य की राजभाषा का दर्जा भी प्राप्त है, जैसे असम में असमिया, पश्चिम बंगाल में बांग्ला, गुजरात में गुजराती, कर्नाटक में कन्नड आदि। किन्तु हमारे कुछ राज्य ऐसे भी है जहां की स्थानीय भाषा अधिकांश जनसंख्या द्वारा नहीं बोली जाती है या यूं कहें कि यहां एक से अधिक भाषा बोली जाती है और ऐसी

परिस्थिति में वहां की स्थानीय भाषा को उस राज्य की राजभाषा का दर्जा प्राप्त नहीं हो पाता बल्कि किसी अन्य भाषा को उस राज्य की राजभाषा घोषित कर दिया जाता है। इसका जीवंत उदाहरण है - नागालैंड जहां केवल अंग्रेजी यानी विदेशी भाषा को आधिकारिक भाषा का दर्जा प्राप्त है। अरुणाचल प्रदेश में लगभग 10 लाख से अधिक जनसंख्या निवास करती है और उनमें से दो-तिहाई निवासियों की मातृभाषा उन तीस भाषाओं में से एक है, जो लुप्तप्राय है।

भाषाओं के लुप्त होने के कारण

शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी

वर्तमान समय में अंग्रेजी एक सशक्त भाषा है और यह ज्ञान, रोजगार और इंटरनेट की प्राथमिक भाषा के रूप में विराजमान है। ज्ञान और रोजगार से जुड़ते ही किसी भी भाषा का महत्व स्वत: बढ़ जाता है। इतना ही नहीं ज्ञान और रोजगार की भाषा मानव मस्तिष्क को भी प्रभावित करती है। यही कारण है कि वर्तमान समय में हमारे देश में अंग्रेजी बोलने और लिखने वालों के प्रति हमारी श्रद्धा बढ़ जाती है क्योंकि हम सोचते है कि अंग्रेजी बोलने वाला व्यक्ति शिक्षित है। जबकि अन्य देशों में ऐसा नहीं है, हमने कभी यह नहीं सुना कि अमेरिका, जापान अथवा चीन में हिन्दी बोलने वाले व्यक्ति को श्रद्धा भाव से देखा जाता हो या उसे शिक्षित समझा जाता हो, कारण यह है कि इन देशों में शिक्षा एवं रोजगार दोनों का माध्यम उनकी अपनी भाषा है, न कि कोई विदेशी भाषा।

भाषाओं के पीढ़ीगत हस्तांतरण में विफलता

वैश्वीकरण के कारण जहां हमारा समाज धीरे-धीरे सशक्त हो रहा है और वहीं आर्थिक स्थिति में भी सुधार हो रहा है। आर्थिक स्थिति में सुधार होते ही मनुष्य अच्छी शिक्षा की ओर बढ़ता है। वर्तमान समय में भारतीय समाज में प्राय: यह देखा जा रहा है कि माता-पिता अपने बच्चों को तकनीकी शिक्षा देना चाहते हैं, जिसका माध्यम अंग्रेजी है। ऐसे में बच्चों की शिक्षा की शुरूआत ही अंग्रेजी से की जाती है ताकि उन्हें तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने में किसी प्रकार की असुविधा न हो और यहीं से शुरूआत होती है अपनी मातृभाषा और भारतीय भाषाओं से दूरी। अक्सर हमें यह सुनने को मिलता है कि बच्चों को हिन्दी का विषय बहुत कठिन लगता है। इसका कारण केवल और केवल इतना ही है कि अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने के लिए माता-पिता इतने प्रतिबद्ध हो जाते हैं कि उन्हें अपनी मातृभाषा और अपनी भारतीय भाषाएं सिखाना भूल ही जाते हैं। घर, परिवार और रिश्तेदारों से भी अंग्रेजी में बात करना सिखाते हैं ताकि अंग्रेजी भाषा पर बच्चे की पकड़ बनी रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्तमान में हमारी भारतीय भाषाएं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंच ही नहीं पा रही है और विलुप्त होने की कगार पर पहुंच गई है।

वैश्वीकरण

वैश्वीकरण ने बाजारवाद को बढ़ावा देने के साथ-साथ भाषा की एकरूपता पर भी जोर दिया है। ऐसी स्थिति में भारतीय भाषाओं के उन्हीं शब्दों को अपनाया जा रहा है, जो प्रचलन में हैं और आसानी से किसी भी अन्य भाषी व्यक्तियों को समझ में आ जाए। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे भारतीय भाषाओं के शब्दों का और तत्पश्चात उन भाषाओं का लोप होने लगा।

भारतीय भाषाओं पर वैश्वीकरण का प्रभाव

वैश्वीकरण ने विश्व की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के साथ विभिन्न देशों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक सीमा में विस्तार करने का कार्य भी किया है। इतना ही नहीं वैश्वीकरण ने विश्व स्तर पर कई भाषाओं की सीमा का भी विस्तार किया है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार भाषा का उपयोग कम होने पर वह विलुप्त हो जाती है, ठीक उसी प्रकार भाषा के उपयोग में विस्तार होने पर उसकी सीमा का विस्तार भी होता है। विचार करने योग्य बात यह है कि क्या

वैश्वीकरण के कारण सभी भाषाओं का विस्तार हुआ है या कुछ भाषाएं संकुचित भी हुई हैं।

वर्तमान में विश्व स्तर पर सबसे अधिक बोली जाने वाली 10 भाषाओं में से पहला स्थान अंग्रेजी को प्राप्त है, परन्तु तीसरे और सातवें स्थान पर क्रमश: हिन्दी एवं बांग्ला ने भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए अपना स्थान सुनिश्चित किया है। यह तथ्य एक भारतीय होने के नाते हमें जितना गर्वित करता है, उतना ही यह दूसरा तथ्य हमारे लिए दु:खद है कि विश्व स्तर पर सर्वाधिक लिखी जाने वाली 10 भाषाओं में से कोई भी भारतीय भाषा अपना स्थान नहीं बना पाई है। स्पष्ट है कि वैश्वीकरण का भारतीय भाषाओं पर केवल सकारात्मक ही नहीं बल्कि नकारात्मक प्रभाव भी पड़ रहा है।

भारतीय भाषाओं पर वैश्वीकरण के सकारात्मक प्रभाव

वर्तमान में भारतीय मूल के लोग लगभग प्रत्येक देश में निवास कर रहे हैं। पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, बांग्लादेश, श्रीलंका आदि देशों में अधिक संख्या में भारतीय निवास कर रहे हैं। साथ ही इंडोनेशिया, मलेशिया, थाईलैण्ड, चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान आदि देश भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित हैं। फिजी में लगभग 44% भारतीय निवास कर रहे हैं, जो हिन्दी लेखन का कार्य करते हैं। यही नहीं कई देशों ने हिन्दी को शिक्षा एवं आधिकारिक स्तर पर भी अपनाया है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, यूरोप आदि में हिन्दी को विश्व की आधुनिक भाषा के रूप में पढ़ाया जाता है। फिजी के संविधान में हिन्दी भाषा को मान्यता प्राप्त है। संयुक्त राज्य अमेरिका के येन विश्वविद्यालय में वर्ष 1815 से हिन्दी पढ़ायी जा रही है। रोजगार की खोज में भारतीय विशेषकर पंजाब और गुजरात के लोगों द्वारा विदेशों की ओर प्रवास भी वैश्वीकरण का ही एक भाग है और भारतीय भाषाओं के प्रसार का माध्यम भी। वैश्वीकरण का भारतीय भाषाओं पर सकारात्मक प्रभाव निम्न बिन्दुओं के माध्यम से देखा जा सकता है:

टेलीविजन और भारतीय भाषाएं

टेलीविजन अर्थात् दूरदर्शन मनोरंजन का एक बहुत ही सशक्त माध्यम है। सन् 1927 में इसके आविष्कार के पश्चात भी सभी घरों में इसकी उपलब्धता संभव नहीं थी, परन्तु आज स्थिति बिल्कुल भिन्न है, आज यह हमारे जीवन की एक मूलभूत आवश्यकता है अर्थात् आज यह विश्व भर में घर-घर में मौजूद है। व्यक्ति का मनोरंजन करने, उन्हें जागरूक बनाने आदि के अलावा टेलीविजन का भारतीय भाषाओं के विस्तार में भी महत्वपूर्ण योगदान है। इसके माध्यम से भारतीय भाषाओं विशेषकर हिन्दी/बांग्ला/पंजाबी/तमिल/तेलुगू आदि भाषाओं के गीत, फिल्म, समाचार, कार्टून आदि पूरे विश्व में प्रसारित होते हैं, जिसके कारण लोग इन भाषाओं से परिचित होते हैं। वर्तमान समय में विश्व भर में लोग हिन्दी/पंजाबी/हरियाणवी आदि गीतों और तमिल/तेलुगू आदि में निर्मित फिल्मों को काफी पसंद करते हैं और उतनी ही रूचि के साथ देखते भी हैं। ऐसे अनेक चैनल हैं जो विश्व स्तर पर उपलब्ध हैं जैसे- स्टार प्लस, स्टार स्पोर्टस, एमटीवी, कार्टून नेटवर्क आदि। इनके माध्यम से अनेकानेक कार्यक्रम कई भारतीय भाषाओं में विश्व भर में प्रसारित किए जाते हैं जिन्हें देश-विदेश में निवास कर रहे भारतीय देखते हैं और उनके आस-पड़ोस के लोग इन भाषाओं से परिचित हो पाते हैं। इसके अलावा बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अपने विभिन्न उत्पादों का कई भारतीय भाषाओं में टी.वी. पर प्रसारण भी इन भाषाओं के विस्तार का माध्यम है।

कम्प्यूटर और भारतीय भाषाओं का विकास

कम्प्यूटर विज्ञान की एक महन्वपूर्ण देन है। कम्प्यूटर, जिसका निर्माण मानव का कार्य सरल और सुविधाजनक बनाने के उद्देश्य से किया गया था।

शुरूआती तौर पर इसने मानव का कार्य सरल बनाने के साथ-साथ अंग्रेजी को बढ़ावा दिया, क्योंकि आरम्भिक तौर पर इसमें केवल अंग्रेजी में कार्य कर पाना ही संभव था। धीरे-धीरे इसमें सुधार किया गया और इसे कई विदेशी भाषाओं सहित भारतीय भाषाओं में कार्य करने के लिए सक्षम बनाया गया। हालांकि आरम्भ में कम्प्यूटर पर भारतीय भाषाओं में कार्य करने के लिए अलग-अलग सॉफ्टवेयर जैसे – आकुर्ति, लिप-ऑफिस आदि का निर्माण किया गया जो बाजार में उपलब्ध थे और इनके बिना भारतीय भाषाओं में कार्य कर पाना संभव नहीं था। कम्प्यूटर को सभी भाषाओं में कार्य करने के लिए एकरूपता लाने के उद्देश्य से यूनिकोड का विकास किया गया जिसके माध्यम से हम कम्प्यूटर में किसी भी भारतीय भाषा में कार्य कर सकते हैं। कम्प्यूटर की इस प्रगति ने विश्व स्तर पर भारतीय भाषाओं के विकास को बढ़ावा दिया है। इतना ही नहीं वॉयस टाइपिंग एवं तकनीकी अनुवाद के माध्यम से किसी भी भारतीय भाषा में कार्य करना संभव है।

भारतीय भाषाओं के लिए वरदान के रूप में मोबाइल

मोबाइल वर्तमान में जिसके बिना हम अपने जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते, उसने हमारे जीवन की दिनचर्या को सरल और सुविधाजनक तो बनाया ही है, साथ ही यह हमारी भारतीय भाषाओं के लिए एक वरदान भी सिद्ध हुआ है। कम्प्यूटर की ही तरह मोबाईल में भी भारतीय भाषाओं में टाईप करना संभव है, संदेश भेजना संभव है। मोबाईल के माध्यम से हम देश-विदेश में बात करते हैं, रोमन लिपि में ही सही परन्तु भारतीय भाषाओं में संदेश भेजे जाते हैं जो अपने आप में एक उपलब्धि है और कहीं न कहीं इसका श्रेय वैश्वीकरण को भी जाता है।

भारतीय भाषाएं और विज्ञापन बाजार

"जो दिखता है, वही बिकता है।" इसीलिए विज्ञापन किसी भी व्यवसाय का एक अभिन्न अंग है। किसी भी व्यवसाय में विज्ञापन जितना अधिक और आकर्षित होगा ग्राहकों की संख्या उतनी ही अधिक होगी। जहां तक बात ग्राहकों को आकर्षित करने की है, तो हम सभी भली-भांति यह समझते हैं कि अपनी भाषा में किसी भी विषय-वस्तु को पढ़कर हम जितना समझ पाते हैं और जितना उसके प्रति आकर्षित हो पाते हैं, उतना किसी अन्य भाषा में नहीं। यही कारण है कि देश-विदेश में अलग-अलग कम्पनियाँ अपना व्यवसाय बढ़ाने के लिए लोगों की जनभाषा में विज्ञापन प्रकाशित करती हैं, ताकि लोग उससे प्रभावित होकर उस वस्तु की अधिक से अधिक खरीदारी करें। अर्थात् व्यवसाय वृद्धि की होड़ में बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने भारतीय भाषाओं को अपने विज्ञापन की भाषा के रूप में अपनाया है, जिससे विश्व स्तर पर भारतीय भाषाओं को बढ़ावा मिल रहा है।

प्रचार-प्रसार के माध्यम और भारतीय भाषाएं

असल में वैश्वीकरण ने बाजारवाद को बढ़ावा दिया है। इसने विश्व स्तर की सभी बड़ी कंपनियों को अपने उत्पादों को विश्व स्तर पर पहुंचाने के लिए एक प्लेटफॉर्म प्रदान किया है। ऐसे में अपनी कंपनी और अपने उत्पादों का प्रचार-प्रसार करना इन कंपनियों के लिए सबसे बड़ी चुनौती बनी और भारत जैसे बहुभाषी देश में इस चुनौती का सामना करने में भारतीय भाषाओं ने इन कंपनियों की सहायता की। यह वैश्वीकरण की ही देन है कि भारत में व्यवसाय करने के लिए विदेशी कंपनियों ने भारतीय भाषाओं को अपने प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया है।

ऐसी अनेको कम्पनियाँ हैं, जिनके स्लोगन पहले हिन्दी में बनाए जा रहे हैं, फिर बाद में उनका भारतीय भाषाओं में संस्करण भी तैयार किया जा रहा है, जो काफी प्रचलित हैं और ग्राहकों के लिए विश्वसनीय भी जैसे- जिन्दगी के साथ भी जिन्दगी के बाद भी (एल.आई.सी), हर घर कुछ कहता है (एशियन पेन्टस), स्वाद जिन्दगी का (डैरी मिल्क), देश

की धड़कन (हीरो होण्डा), जिओ सर उठा के (एच.डी.एफ.सी.), हम हैं न (आई.सी.आई.सी.आई) आदि।

सोशल मीडिया और भारतीय भाषाएं

वैश्वीकरण के इस दौर में सम्पूर्ण विश्व को एक स्थान पर लाने का श्रेय सोशल मीडिया को भी जाता है। सोशल मीडिया तकनीकी दुनिया का महत्वपूर्ण विकास है। इसके माध्यम से कोई भी व्यक्ति एक स्थान से एक ही समय में देश-विदेश के एक बड़े जनसमूह के साथ किसी भी सूचना को साझा कर सकता है। फेसबुक, व्हाटस्एप, ट्विटर, इंस्टाग्राम, लिंकडिन, शेयरचैट आदि के माध्यम से लोग एक दूसरे के सम्पर्क में बने रहते हैं और हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं में अपनी सूचनाएं साझा करते हैं, ये सूचनाएं देश-विदेश में सभी लोगों के लिए सार्वजनिक होती हैं। आज कल तो सोशल मीडिया में स्टीकर भी विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध हैं जो विश्व स्तर उपयोग किए जा रहे हैं।

वेबसाइटों में भारतीय भाषाएं

इंटरनेट प्रचार-प्रसार का बहुत महत्वपूर्ण माध्यम है। वर्तमान समय में व्यक्ति को किसी भी प्रकार की जानकारी प्राप्त करनी होती है तो वह सबसे पहले इंटरनेट पर उसकी तलाश करता है। किसी भी संस्था, कम्पनी आदि से सम्बन्धित जानकारी भी इंटरनेट पर सरलतापूर्वक उपलब्ध होती है। प्रारम्भ में इस क्षेत्र में भी केवल अंग्रेजी का वर्चस्व था, परन्तु वर्तमान में इस क्षेत्र की ओर भी भारतीय भाषाएं अपना कदम बढ़ा रही हैं।

आज लगभग कोई भी जानकारी, वेबपेज आदि अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में भी उपलब्ध है, जिसे विश्व भर में लोगों द्वारा पढ़ा और देखा जाता है। जैसे-जैसे हम तकनीकी विकास की ओर बढ़ रहे हैं, भाषाओं की सुविधा उतनी ही अधिक बढ़ती जा रही है। आज किसी भी वेबसाइट पर कोई भी सूचना खोजते ही विभिन्न भाषाओं में उनके अनुवाद के विकल्प सामने आ जाते हैं, फिलहाल इन भाषाओं में भारतीय भाषा के रूप में हिन्दी को शामिल किया है। आशा है धीरे-धीरे अन्य भारतीय भाषाएं भी इसमें अपना स्थान बना पाएंगी।

स्पष्ट है कि भारतीय भाषाओं के विकास एवं प्रचार-प्रसार में वैश्वीकरण एक अहम भूमिका का निर्वाह कर रहा है। किन्तु हम इस तथ्य को भी अनदेखा नहीं कर सकते हैं कि वैश्वीकरण ने भारतीय भाषाओं को नकारात्मक रूप से भी प्रभावित किया है, निम्न बिन्दुओं के माध्यम से भारतीय भाषाओं पर वैश्वीकरण के नकारात्मक प्रभाव को देख सकते हैं :

भारतीय भाषाओं का स्वरूप परिवर्तन

किसी भी भाषा का स्वरूप उस भाषा की विशेषता होती है या हम यूं कहें कि भाषा का स्वरूप ही उसकी पहचान है। वैश्वीकरण ने भारतीय भाषाओं के स्वरूप को सबसे अधिक नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है। विश्व स्तर पर किसी भी उत्पाद अथवा विचार के प्रचार-प्रसार के लिए भाषा के स्वरूप को परिवर्तित कर उसे प्रस्तुत किया जा रहा है।

उदाहरणस्वरूप आईबीएम का स्लोगन है "आइए स्मार्ट तरीके से काम करें"। इस कंपनी ने अपने प्रचार के लिए हिन्दी भाषा का उपयोग तो किया है, परन्तु उसमें स्मार्ट शब्द अंग्रेजी भाषा का है। ऐसे ही ज़ारा की टैगलाइन है "सभी के लिए फैशन"। वहीं एक्सिस बैंक लिखता है – "दिल से ओपन"। इसलिए सृजनात्मकता के नाम पर हिन्दी भाषा के साथ अंग्रेजी शब्दों का मिश्रण इसी प्रकार प्रयोग किया जाता रहा, तो इसका वास्तविक स्वरूप धीरे-धीरे नष्ट होता जाएगा।

खतरें में लिपियां

वैश्वीकरण जहां एक ओर भारतीय भाषाओं को बढ़ावा दे रहा है, वहीं दूसरी ओर इसने भारतीय

भाषाओं की लिपि को नष्ट कर दिया है। वैश्वीकरण का सबसे पहला प्रभाव भाषाओं पर यही पड़ा कि भाषाएं अपनी मूल लिपि के बजाय रोमन लिपि में लिखी जा रही हैं और यह प्रभाव अन्य विदेशी भाषाओं के साथ नहीं अपितु भारतीय भाषाओं के साथ ही देखा जा रहा है। यह प्रक्रिया ऐसे ही जारी रही, तो शीघ्र ही हम अपनी लिपि को खो देंगे । हमारी भारतीय भाषाएं विकसित तो हो जाएंगी, किन्तु इनकी लिपि कहीं पीछे छूट जाएगी।

शब्द सृजन और भारतीय भाषाएं

वाक्यों की तरह ही शब्दों में भी अन्य भाषाओं के वर्णों के मिश्रण की प्रक्रिया वर्तमान में तीव्र गति से आगे बढ़ रही है, जिसका श्रेय निश्चित तौर पर वैश्वीकरण को जाता है। ऐसा विशेष रूप से किसी कार्यक्रम के नाम, पत्र-पत्रिकाओं के नाम आदि के साथ किया जा रहा है।

उदाहरण के लिए किसी कार्यक्रम का हिन्दी में प्रेरणा नाम निर्धारित किया गया, किन्तु उसे आकर्षित बनाने के लिए उसका प्रचार-प्रसार प्रेरणा लिखकर किया गया। इसकी प्रकार पत्रिका का नाम हिन्दी में जागरूक निर्धारित किया गया, किन्तु उसका मुद्रण जागरूक के रूप में किया गया। यानी हिन्दी का उपयोग अब हिन्दी के रूप में नहीं बल्कि हिंग्लिश के रूप में किया जा रहा है। इतना ही नहीं कई बार नाम तो भारतीय भाषाओं में रखे जाते हैं किन्तु उनका मुद्रण एवं प्रचार-प्रसार केवल रोमन लिपि में किया जाता है।

घटते शब्द भंडार

वैश्वीकरण ने विश्व स्तर पर सभी को एक मंच प्रदान करने का कार्य किया है। ऐसे में एक-दूसरे के साथ जुड़ने के लिए विभिन्न भारतीय एवं विदेशी भाषाओं को अपनाया जा रहा है, जो इन भाषाओं की प्रगति के लिए अच्छा है, किन्तु हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि यह वैश्वीकरण का ही प्रभाव है कि वर्तमान में केवल उस भाषा एवं उन शब्दों के उपयोग को बढ़ावा दिया जा रहा है, जिससे देश-विदेश के लोग परिचित हों। उदाहरण हेतु अंग्रेजी एवं हिन्दी और इनके प्रचलित शब्दों के प्रयोग में वृद्धि हुई है। अन्य भारतीय भाषाओं का उपयोग उतना अधिक नहीं बढ़ पाया है जितना कि हिन्दी का और हिन्दी के भी केवल प्रचलित शब्द ही उपयोग किए जा रहे हैं । ऐसे में शब्द भंडार सीमित होने और अन्य भारतीय भाषाओं के उपयोग में कमी आने का खतरा मंडराता प्रतीत हो रहा है।

निष्कर्ष

भारतीय भाषाओं की वर्तमान स्थिति एवं उन पर वैश्वीकरण के विभिन्न प्रभाव पर विस्तृत विवेचन के पश्चात निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण के कारण केवल वैश्विक अर्थव्यवस्था ही नहीं, बल्कि भारतीय भाषाएं भी समृद्ध हो रही हैं और इसी प्रकार यदि भारतीय भाषाओं का उपयोग निरंतर बढ़ता रहा, तो निश्चित तौर पर ये भाषाएं विश्व स्तर पर अपनी एक नई पहचान बना पाएंगी तथा भविष्य में इन्हें विकसित भाषाओं में गिना जाएगा, किन्तु हमें अपनी भाषाओं के साथ-साथ इनके स्वरूप और लिपि को भी जीवंत बनाए रखना होगा अन्यथा हमारी भाषाएं जीवंत रहकर भी मृतप्राय होंगी।

अपने मूल स्वरूप को खोकर कोई भी भाषा अपने मूल रूप में विकसित नहीं हो सकती और अपनी भाषा को उसके मूल स्वरूप और लिपि के साथ विकसित करने की जिम्मेदारी हम भारतीयों की है। हम यदि अपनी भाषा को उसके मूल रूप में उपयोग नहीं करेंगे तो अन्य भाषा-भाषी कैसे उसे उसके मूल रूप में स्वीकार करेंगे। एक भारतीय होने के नाते यह हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी भाषा को उसके मूल रूप में उसकी लिपि के साथ बढ़ावा दें। तभी हमारी भारतीय भाषाएं उन्नत हो पाएंगी ।

*****

हिंदी पखवाड़े के दौरान आयोजित राजभाषा हिंदी कार्यशाला

भरत मुनि द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' भारतीय नाट्य और काव्यशास्त्र का आदिग्रंथ है। नाट्यशास्त्र नृत्य, संगीत, अभिनय, साहित्य और ललित कलाओं सहित प्रदर्शन कलाओं के सिद्धांतों, शैली और तकनीकों की व्याख्या करता है। भरत मुनि ने इस ग्रंथ में रस की अवधारणा का विस्तार से वर्णन किया गया है तथा उन्होंने 'विभावानुभावसंयोगद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र दिया है, जिसका अर्थ है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत मुनि के द्वारा प्रतिपादित आठ रस और उनके स्थायी भाव हैं: श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत। आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त जैसे विद्वानों शांत रस को प्रतिपादित करते हुए नवरस की अवधारणा को पूर्ण किया।

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार